आचार्य समन्तभद्र विरचित

स्तुतिविद्या

(जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)

दिव्याशीष

दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज

सम्पादक

विजय कुमार जैन

आचार्य समन्तभद्र विरचित

स्तुतिविद्या

(जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)

आचार्य समन्तभद्र विरचित

स्तुतिविद्या

(जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)

दिव्याशीष

दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज

सम्पादक

विजय कुमार जैन

विकल्प

आवरण चित्र

आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ भगवान् की परम वीतरागी व मनोहारी प्रतिमा जो श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, तेरापंथी कोठी, श्रीसम्मेद शिखरजी, झारखण्ड, में विराजमान है।

विजय कुमार जैन, अप्रैल 2017

आचार्य समन्तभद्र विरचित
स्तुतिविद्या
(जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)

विजय कुमार जैन

Ācārya Samantabhadra's
Stutividyā
(Jinaśataka, Jinastutiśataṃ)

Vijay K. Jain

Non-copyright
This work may be reproduced, translated and published in any language without any special permission.

ISBN: 978-81-932726-7-1

Rs. 500/-

Published, in the year 2020, by:
Vikalp Printers
Anekant Palace, 29 Rajpur Road
Dehradun-248001 (Uttarakhand) India

E-mail: vikalp_printers@rediffmail.com
Tel.: (0135) 2658971, Mob.: 9412057845, 9760068668

Printed at:
Vikalp Printers, Dehradun

दिव्याशीष -
दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज

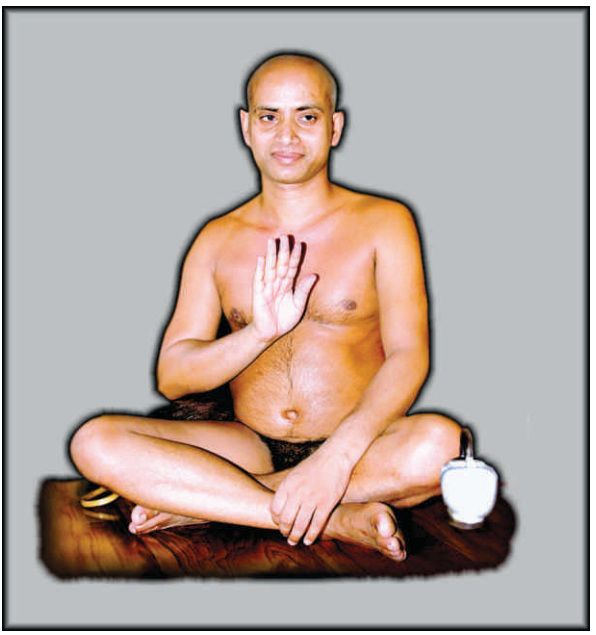

संस्कृति को जीवित रखता है साहित्य; बिना साहित्य के संस्कृति जीवित नहीं रह सकती। सद्-साहित्य ने ही विश्व तत्त्व-विद्या में श्रमण-संस्कृति, जैन-दर्शन, जैन-धर्म को उच्च-स्थान दिया है। विश्व-वसुन्धरा पर सम्प्रति विपुल-जैन-वाङ्मय, पुरातत्व ही तो जैनत्व की समृद्धि की गौरव-गाथा गा रहा है।

जिसे साहित्य-प्रेम है, उसे संस्कृति के प्रति तीव्र-प्रेम अनुराग है। यह परम-सत्य है कि- 'साहित्यकारों ने ही तो संस्कृति को महान् बनाया है।' जिस दर्शन व देश में साहित्य एवं साहित्यकारों का सम्मान है, वही देश, धर्म व दर्शन महान् है। वही साहित्य महानता प्रदान कर पाता है, जिसमें दया-दम-त्याग-समाधि की भावना निहित है। जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के सिद्धान्तों से पूर्ण है, वही श्रेष्ठ साहित्य है। जो जगति के जीवों को कल्याण का हेतु बने, वही ग्रंथ साहित्य संज्ञा को प्राप्त होता है।

जिसमें पापों की प्रशंसा हो, जो करुणा-दया-अहिंसा से शून्य हो, जो प्राणी-संहार की बात करे, वह व्याख्या कभी भी सज्जनों के द्वारा सद्-शास्त्र एवं सद्-साहित्य संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकती है।

जैनाचार्यों ने प्रकृति एवं वस्तु के वस्तुत्व में डूबकर 'सत्यार्थ-बोध' के माणिक्य प्रदान किए हैं। वस्तु अनंत-धर्मात्मक है; उसे अनेकान्त दृष्टि से ही समझा जा सकता है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ग्रन्थ में कहा है कि-

संति अणंताणंता तीसु वि कालेसु सव्वदव्वाणि ।
सव्वं पि अणेयंतं तत्तो भणिदं जिणेंदेहिं ॥ 224 **॥**

तीनों कालों में अनंतानंत द्रव्य हैं, जो कि अनेकान्त रूप हैं, अनेक धर्मों के स्वामी हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

'अनेकान्त स्याद्वाद-विद्या' का कथन जैनागम में सर्वत्र उपलब्ध होता है, परन्तु स्वतंत्र-रूप से दिगम्बराचार्य समन्तभद्र स्वामी ने जैन-न्याय को अत्यंत उच्च स्थान प्रदान किया है। सम्प्रति काल में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैन न्याय-विद्या के प्रकांड महापंडित हुए हैं। आपकी गुण-महिमा, साहित्य-शैली, न्याय-विद्या, तर्क-शक्ति, अतिशयपूर्ण-चर्या से प्रभावित होकर अपरवर्ती-आचार्यों ने समन्तभद्र को कवियों में तीर्थंकर संज्ञा से संबोधित किया है। किसी-किसी ने तो भावी-तीर्थंकर कहकर पूज्यता प्रकट की है।

'स्वामी' सम्बोधन लोक में इतना अधिक प्रसिद्ध हुआ समन्तभद्र के लिए कि- 'स्वामी' शब्द बोलते ही, आचार्यप्रवर समन्तभद्र स्वतः स्मरण हो जाते हैं। आचार्यदेव वर्तमान युग में सर्वप्रथम प्रधान-स्तुति-साहित्य के कर्ता हैं। भक्ति-स्तुति में न्याय-विद्या का प्रयोग कैसे किया जाता है, इस कला को समन्तभद्र स्वामी से सीखना चाहिए। उनकी सम्पूर्ण कृतियाँ न्याय-दर्शन एवं भक्ति से पूर्ण हैं। एकमात्र 'रत्नकरण्डक-श्रावकाचार' ग्रंथ श्रावक-धर्म की प्ररूपणा करता है। आपने गंधहस्ती-महाकाव्य, प्राकृत-व्याकरण का भी सृजन किया, परन्तु वह अनुपलब्ध है। कहीं श्रुत-भण्डारों में सुरक्षित हो, तो अन्वेषणीय है।

'स्तुतिविद्या' आचार्य समन्तभद्र स्वामी की एक अमूल्य कृति है जिसमें विशिष्ट छंदों का प्रयोग है। मुरजबन्धादि में श्लोकों को निबद्ध कर सुशोभित किया है; एक-एक वर्णों में श्लोकों की अपूर्व रचना है। अर्हत्-भक्ति के मूर्त-रूप थे, आचार्य समन्तभद्र स्वामी। पद-पद में प्रभु-भक्ति समाहित है, देखिये 'धर्मनाथ-स्तुति' में आचार्यदेव कहते हैं, तन्मय होकर कि-

यतः कोपि गुणानुक्त्या नावाब्धीनपि पारयेत् ।
न तथापि क्षणाद्भक्त्या तवात्मानं तु पावयेत् ॥ 59 / **स्तुतिविद्या**

हे धर्मनाथ स्वामी! कदाचित् महासागर को नौका से पार किया जा सकता है, परन्तु हे नाथ! आप तो गुण-सागर हैं; आप के गुण-समुद्र को कौन पार कर सकता है? हम आपकी भक्ति की महिमा से; आत्म-पवित्रता हेतु आपकी भक्ति कर रहे हैं, क्योंकि प्रभु-भक्ति अशुभ से रक्षा करती है।

प्रभु-भक्ति से देवत्व की प्राप्ति होती है और परम्परा से मोक्ष-सुख प्रदान करने वाली है- 'अरिहंत-भक्ति'।

'स्तुतिविद्या' महान् ग्रंथ को पूर्व में अनेक विद्वानों ने स्व-योग्यतानुसार प्ररूपित किया है। सम्प्रति स्वाध्यायार्थ जन-जन तक पहुँचाने हेतु; सम्पादन का श्रमशील कार्य कर रहे विद्वान-मनीषी, पाप-भीरु, श्रुत-भक्त श्री विजय कुमार जैन (देहरादून) ने इस ग्रंथ पर कार्य किया है। आपकी ज्ञान-पिपासा, श्रुत-सेवा की पवित्र-भावना सदा इसी प्रकार वर्द्धमान रहे। आप प्राचीन ग्रन्थों का श्रेष्ठ सम्पादन कार्य करते रहें, जिससे भोले-भव्यों को सद्-मार्ग का उपदेश प्राप्त होता रहे। आप परमजिन, श्रुत, साधु-भगवंतों की आराधना करते हुए, स्व-समाधि की सम्पत्ति प्राप्त करें, यही मंगलमय शुभाशीष है।

'इत्यलं'।

पावन वर्षायोग **श्रमणाचार्य विशुद्धसागर मुनि**

बासोकुण्ड, वैशाली (बिहार) भारत

8 अगस्त, 2020

* * *

प्रस्तावना

इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं ।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं ॥१॥

– आचार्य कुन्दकुन्द **'पंचास्तिकाय-संग्रह'**

अर्थ – जो सौ इन्द्रों से वन्दित हैं, तीन लोक को हितकर, मधुर एवं विशद (निर्मल, स्पष्ट) जिनकी वाणी है, अन्त से अतीत (रहित) अर्थात् अनन्त गुण जिन में हैं और जिन्होंने भव (संसार) पर विजय प्राप्त की है, ऐसे जिनों (अर्हन्तों) को नमस्कार हो।

केवलज्ञान की उत्पत्ति और केवलज्ञानी का स्वरूप

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१०-१॥

– आचार्य उमास्वामी, **'तत्त्वार्थसूत्र'**

अर्थ – मोह का क्षय होने से (अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त क्षीणकषाय नामक गुणस्थान प्राप्त करने के बाद) और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीन कर्मों का एक साथ क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

मोह का क्षय ही मुख्यतया केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। परम तप को धारण कर प्रशस्त अध्यवसाय से उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए साधक के शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता है और अशुभ प्रकृतियाँ कृश होकर विलीन हो जाती हैं। साधक समस्त मोहनीय कर्म का निर्मूल क्षय करके क्षीणकषाय-गुणस्थान में मोहनीय का समस्त भार उतार कर फेंक देता है। वह उपान्त्य समय में निद्रा-प्रचला का क्षय करके पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायों का अन्त समय में विनाश कर अचिन्त्य विभूतियुक्त केवलज्ञान-दर्शनस्वभाव को निष्प्रतिपक्षीरूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त और निरुपलेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्त्ती सर्वद्रव्य का ज्ञाता, सर्वत्र अप्रतिहत अनन्तदर्शनशाली कृतकृत्य मेघपटलों से विमुक्त शरत्कालीन पूर्णचन्द्र की तरह सौम्यदर्शन और प्रकाशमानमूर्ति केवली हो जाता है।[1]

---

1. देखें, **'तत्त्वार्थवार्तिक'**, पृ. 800-801

केवलज्ञान-दर्शन वाले सशरीरी ऐश्वर्यशाली घतिया कर्मों के नाशक और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म की सत्ता वाले केवली के अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख होता है।

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो ।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥१-१९॥

- आचार्य कुन्दकुन्द **'प्रवचनसार'**

अर्थ - वह स्वयंभू भगवान् आत्मा अतीन्द्रिय - इन्द्रिय ज्ञान से परे - होता हुआ अपने और पर के प्रकाशने (जानने) वाला ज्ञान तथा आकुलता रहित अपना सुख, इन दोनों स्वभावरूप परिणमता है। कैसा है भगवान्? सर्वथा नाश किये हैं चार घातिया कर्म जिसने अर्थात् जब तक घातिया कर्म सहित था तब तक क्षायोपशमिक मत्यादि ज्ञान तथा चक्षुरादि दर्शन सहित था। घातिया कर्मों के नाश होते ही अतीन्द्रिय हुआ। फिर कैसा है? मर्यादा रहित है उत्कृष्ट बल जिसके अर्थात् अन्तराय के दूर होने से अनन्तबल सहित है। फिर कैसा है? अनन्त है ज्ञान-दर्शनरूप प्रकाश जिसके अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के जाने से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शनमयी है। और समस्त मोहनीय कर्म के नाश से स्थिर अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया है।

केवली भगवान् त्रिकालिक सर्व पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं।

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥१-२२॥

- आचार्य कुन्दकुन्द **'प्रवचनसार'**

अर्थ - इन केवली भगवान् के कुछ भी पदार्थ परोक्ष नहीं है। एक ही समय सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्रत्यक्ष जानते हैं। कैसे हैं वे भगवान्? सदा इन्द्रियों से रहित ज्ञान वाले हैं। इन्द्रियाँ संसार सम्बन्धी ज्ञान का कारण हैं और परोक्षरूप मर्यादा लिये पदार्थों को जानती हैं, इस प्रकार की भाव-इन्द्रियाँ भगवान् के अब नहीं हैं इसलिये सब पदार्थों को सदा ही प्रत्यक्ष-स्वरूप जानते हैं। फिर कैसे हैं? सब आत्मा के प्रदेशों (अंगों) में सब इन्द्रियों के गुण जो स्पर्शादि का ज्ञान पुष्कल पूर्ण हैं अर्थात् जो एक-एक इन्द्रिय एक-एक गुण को ही जानती है जैसे आँख रूप को, इस तरह के क्षयोपशमजन्य ज्ञान के अभाव होने पर प्रगट हुए केवलज्ञान से वे केवली भगवान् सब अंगों द्वारा सब स्पर्शादि विषयों को जानते हैं। फिर कैसे हैं?

अपने से ही निश्चयकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं।

केवली भगवान् के बन्ध के कारणों का अभाव होता है।

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥१-५२॥

– आचार्य कुन्दकुन्द **'प्रवचनसार'**

अर्थ – केवलज्ञानी शुद्धात्मा उन पदार्थों को जानता हुआ भी जिस कारण निश्चय करके न तो परिणमता है, न ग्रहण करता है और न उन पदार्थों में उत्पन्न होता है उसी कारण से वह नवीन कर्मबन्ध से रहित कहा गया है।

अर्हन्त (तीर्थंकर, आप्त) का स्वरूप

जिन, अर्हन्त, तीर्थंकर अथवा आप्त परमेष्ठी का स्वरूप जानने योग्य है।

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।
चोत्तिसअदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥७१॥

– आचार्य कुन्दकुन्द **'नियमसार'**

अर्थ – घन (अत्यन्त अहितकारी) घातिया कर्मों से रहित, केवलज्ञानादि परम गुणों सहित और चौंतीस अतिशय संयुक्त, ऐसे अर्हन्त (अर्हत्) होते हैं।

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥ ७ ॥

– आचार्य समन्तभद्र, **'रत्नकरण्डकश्रावकाचार'**

अर्थ – वह आप्त – परमेष्ठी (इन्द्रादिक के द्वारा वन्दनीय परमपद में स्थित), परम-ज्योति (केवलज्ञान ज्योति से सहित), विराग (राग-रूप भावकर्म से रहित), विमल (मूलोत्तर प्रकृतिरूप द्रव्यकर्म के नष्ट हो जाने से मल रहित), कृती (समस्त हेय-उपादेय तत्त्वों के विषय में विवेक-सम्पन्न अर्थात् कृतकृत्य, सर्वज्ञ (समस्त पदार्थों के साक्षात्कारी होने से), अनादिमध्यान्त (आप्त के प्रवाह की अपेक्षा से आदि, मध्य तथा अन्त से रहित), सार्व (सभी प्राणियों का उपकार करने वाले मार्ग

को दिखलाने के कारण), और शास्ता (पूर्वापर-विरोध आदि दोषों को बचाकर समस्त पदार्थों का यथार्थ उपदेश देने से) - इन शब्दों के द्वारा कहा जाता है, अर्थात् ये सब आप्त के नाम हैं।

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥ ५० ॥

- आचार्य नेमिचन्द्र **'द्रव्यसंग्रह'**

अर्थ - चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाला, अनन्त दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्य का धारक, परम उत्तम देह में विराजमान, ऐसा जो शुद्ध आत्मा है वह अरिहंत है; उसका ध्यान करना चाहिए।

आप्त परमेष्ठी निश्चयनय से शरीररहित हैं तो भी व्यवहारनय की अपेक्षा से वे सात धातुओं से रहित, कोटि सूर्य-चन्द्र के तेज को तिरस्कार करने वाली कान्ति से युक्त, परम औदारिक शरीर को धारण करते हैं। इस कारण उनको 'सुहदेहत्थो' अर्थात् शुभ देह में विराजमान कहा गया है।

आप्त परमेष्ठी दोषों से रहित हैं और गुणों से सहित हैं। वे कौन से दोष हैं जिनसे रहित आप्त होते हैं?

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू ।
सेदं खेद मदो रइ विम्हिय णिद्दा जणुव्वेगो ॥६॥

- आचार्य कुन्दकुन्द, **'नियमसार'**

अर्थ - क्षुधा, तृष्णा (तृषा), भय, रोष (क्रोध), राग, मोह, चिन्ता, जरा (बुढ़ापा), रोग, मृत्यु, स्वेद (पसीना), खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग (विषाद) - ये अठारह दोष हैं।

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥७॥

- आचार्य कुन्दकुन्द, **'नियमसार'**

अर्थ - जो (पूर्वोक्त) समस्त (सभी अठारह) दोषों से रहित है तथा केवलज्ञान आदि परम वैभव से युक्त है, वह परमात्मा कहलाता है। उससे जो विपरीत है वह

परमात्मा नहीं है।

भगवान् की दिव्यध्वनि

भगवान् की वाणी अर्थात् दिव्यध्वनि तीन लोक को हितकर, मधुकर एवं विशद होती है। वह ऊर्ध्व-अधो-मध्य लोकवर्ती समस्त जीवसमूह को विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय कहने वाली होने से हितकर है, परमार्थरसिक जनों के मन को हरने वाली होने से मधुर है और समस्त शंकादि दोषों के स्थान दूर कर देने से विशद (निर्मल, स्पष्ट) है।

भगवान् जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि अठारह महाभाषा, सात-सौ क्षुद्र-भाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाएँ हैं उनमें तालु, दाँत, ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित होकर एक ही समय (एक साथ) भव्य जीवों को उपदेश देती है। स्वभावतः अस्खलित तथा अनुपम यह दिव्यध्वनि तीनों सन्ध्याकालों में नव-मुहूर्तों तक निकलती है और एक योजन पर्यन्त जाती है। इसके अतिरिक्त गणधरदेव, इन्द्र एवं चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ यह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह दिव्यध्वनि भव्य जीवों के लिये छह-द्रव्य, नौ-पदार्थ, पाँच-अस्तिकाय और सात-तत्त्वों का निरूपण नाना प्रकार के हेतुओं के द्वारा करती है।[1]

आप्त परमेष्ठी के वचन बन्ध के कारण नहीं हैं।

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ ।
परिणामरहिवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७३॥

ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ ।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

– आचार्य कुन्दकुन्द, **'नियमसार'**

अर्थ – परिणामपूर्वक (मनपरिणाम सहित) वचन जीव को बन्ध का कारण है; (केवलज्ञानी को) परिणामरहित वचन होता है इसलिये उस ज्ञानी को वास्तव में बन्ध नहीं है।

---

1. देखें, **'तिलोयपण्णत्ती-२'**, पृ. 279-280

इच्छापूर्वक वचन जीव को बन्ध का कारण है; (केवलज्ञानी को) इच्छारहित वचन होता है इसलिये उस ज्ञानी को वास्तव में बन्ध नहीं है।

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥८॥

– आचार्य समन्तभद्र, **'रत्नकरण्डकश्रावकाचार'**

अर्थ – आप्त भगवान् राग के बिना, अपना प्रयोजन न होने पर भी, भव्यजीवों को समीचीन हित का उपदेश देते हैं क्योंकि बजाने वाले के हाथ के स्पर्श से शब्द करता हुआ मुरज (मृदंग) क्या अपेक्षा रखता है? अर्थात् कुछ भी नहीं।

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥ १५-४-७४ ॥

– आचार्य समन्तभद्र, **'स्वयम्भूस्तोत्र'**

अर्थ – आप प्रत्यक्ष ज्ञानी की काय, वचन और मन की प्रवृत्तियाँ आपकी कुछ करने की इच्छा से नहीं हुईं, न ही आपकी ये चेष्टाएँ वस्तु-स्वरूप को न जानते हुए अर्थात् अज्ञान-पूर्वक हुईं। हे धीर-वीर धर्मनाथ जिन! आपका चारित्र अचिन्त्य है, आश्चर्य करने वाला है।

अर्हन्त भगवान् को जानना मोहकर्म के क्षय का कारण है

द्रव्य, गुण, पर्यायों के द्वारा उपलक्षित धर्म वाले वीतरागदेव (अर्हन्तदेव) को जो जानता है वह अपने स्वरूप को जानता है क्योंकि निश्चयकर दोनों में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार से आत्मस्वरूप को जानने वाले के निश्चय ही मोहकर्म नाश को प्राप्त होता है।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥१-८०॥

– आचार्य कुन्दकुन्द **'प्रवचनसार'**

अर्थ – जो पुरुष द्रव्य, गुण, पर्यायों से पूज्य वीतरागदेव को जानता है वह अपने स्वरूप को जानता है और निश्चयकर उसी का मोहकर्म नाश को प्राप्त होता है।

तीर्थंकर नामकर्म का आस्त्रव : सोलह भावनाएँ

अनन्त, अनुपम और अचिन्त्य विभूति का कारण त्रैलोक्योत्कृष्ट तीर्थंकर नामकर्म के आस्त्रव का कारण निम्न सोलह भावनाएँ हैं-

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचन-भक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥६-२४॥

- आचार्य उमास्वामी, **'तत्त्वार्थसूत्र'**

अर्थ - 1- दर्शनविशुद्धि, 2- विनयसम्पन्नता, 3- शीलव्रतेष्वनतीचार - शील और व्रतों में अनतिचार अर्थात् अतिचार का न होना, 4- अभीक्ष्णज्ञानोपयोग - निरन्तर ज्ञानोपयोग, 5- संवेग - संसार से भयभीत होना, 6-7- शक्ति के अनुसार त्याग तथा तप करना, 8- साधुसमाधि, 9- वैयावृत्त्य करना, 10-13- अर्हत्-आचार्य-बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन (शास्त्र) के प्रति भक्ति करना, 14- आवश्यकापरिहाणि - आवश्यकों में हानि न करना, 15- मार्ग प्रभावना और 16- प्रवचनवत्सलत्व। ये सोलह भावनाएँ तीर्थंकर-नामकर्म के आस्त्रव का कारण हैं।

दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृति के आस्त्रव के कारण हैं।[1]

1. जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में रुचि दर्शनविशुद्धि है। इसके आठ अंग हैं- नि:शंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टिता, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।
2. सम्यग्ज्ञान आदि मोक्ष के साधनों में तथा ज्ञान के निमित्त गुरु आदि में योग्य रीति से सत्कार आदि करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है।
3. अहिंसा आदि व्रत तथा उनके परिपालन के लिए क्रोधवर्जन आदि शीलों में काय, वचन और मन की निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रतेष्वनतीचार है।
4. जीवादि पदार्थों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जानने वाले मति आदि पाँच ज्ञान

1. देखें, **'तत्त्वार्थवार्तिक'**, पृ. 721-723

हैं। अज्ञान-निवृत्ति इनका साक्षात् फल है तथा हितप्राप्ति, अहितपरिहार और उपेक्षा व्यवहित फल हैं। इस ज्ञान की भावना में सदा तत्पर रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है।

5. शरीर, मानस आदि अनेक प्रकार के प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, इष्ट का अलाभ आदि रूप सांसारिक दु:खों से नित्यभीरुता संवेग है।

6. पर की प्रीति के लिए अपनी वस्तु को देना त्याग है। आहार देने से पात्र को उस दिन प्रीति होती है। अभयदान से उस भव का दु:ख छूटता है, अत: पात्र को सन्तोष होता है। ज्ञानदान तो अनेक सहस्र भवों के दु:ख से छुटकारा दिलाने वाला है। ये तीनों दान विधिपूर्वक दिये गये त्याग कहलाते हैं।

7. अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर मार्गाविरोधी कायक्लेश आदि करना तप है।

8. जैसे भण्डार में आग लगने पर वह प्रयत्नपूर्वक शान्त की जाती है उसी तरह अनेक व्रत-शीलों से समृद्ध मुनिगण के तप आदि में यदि कोई विघ्न उपस्थित हो जाये तो उसका निवारण करना साधुसमाधि है।

9. गुणवान् साधुओं पर आये हुए कष्ट (रोग आदि) को निर्दोष विधि से हटा देना, उनकी सेवा आदि करना बहु-उपकारी वैयावृत्त्य है।

10-13. केवलज्ञान, श्रुतज्ञान आदि दिव्यनेत्रधारी परहितप्रवण और स्वसमयविस्तार-निश्चयज्ञ अर्हन्त, आचार्य और बहुश्रुतों में तथा श्रुतदेवता के प्रसाद से कठिनता से प्राप्त होने वाले मोक्षमहल की सीढ़ीरूप प्रवचन में भावविशुद्धिपूर्वक अनुराग करना अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति है।

14. सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग - इन छह आवश्यक क्रियाओं को यथाकाल, स्वाभाविक क्रम से करते रहना आवश्यकापरिहाणि है। सर्व सावद्ययोगों का त्याग करना, चित्त को एकाग्ररूप से ज्ञान में लगाना सामायिक है। तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन चतुर्विंशतिस्तव है। मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक खड्गाासन या पद्मासन से चार बार शिरोनति बौर बारह आवर्त पूर्वक वन्दना होती है। कृत दोषों की निवृत्ति प्रतिक्रमण है। भविष्य में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है। अमुक समय तक शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

15. परसमयरूपी जुगनूओं के प्रकाश को पराभूत करने वाले ज्ञानरवि की प्रभा से,

इन्द्र के सिंहासन को कँपा देने वाले महोपवास आदि सम्यक् तपों से तथा भव्यजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्यप्रभा समान जिनपूजा के द्वारा सद्धर्म का प्रकाश करना मार्गप्रभावना है।

16. जैसे गाय अपने बछड़े से अकृत्रिम स्नेह करती है उसी तरह धार्मिक जन को देखकर स्नेह से ओतप्रोत हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है।

भगवान् ऋषभदेव का पूर्वभव में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का संक्षिप्त वर्णन[1]

"... तत्पश्चात् वह (भगवान् ऋषभदेव के पूर्वभव का जीव) अच्युतेन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर महाकान्तिमान् जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रसेन राजा और श्रीकान्ता नाम की रानी के वज्रनाभि नाम का समर्थ पुत्र उत्पन्न हुआ।...

... अथानन्तर जब वज्रनाभि पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तब उसका शरीर तपाये हुए सुवर्ण के समान अतिशय देदीप्यमान हो उठा और इसीलिये वह प्रातःकाल के सूर्य के समान बड़ा ही सुशोभित होने लगा।...

... तदनन्तर इसकी (वज्रनाभि की) योग्यता जानकर वज्रसेन महाराज ने अपनी सम्पूर्ण राज्यलक्ष्मी इसे ही सौंप दी।...

... तदनन्तर लौकान्तिक देवों ने आकर महाराज वज्रसेन को समझाया जिससे प्रबुद्ध होकर उन्होंने दीक्षा धारण करने में अपनी बुद्धि लगायी। जिस समय इन्द्र आदि उत्तम-उत्तम देव भगवान् वज्रसेन की यथायोग्य पूजा कर रहे थे उसी समय उन्होंने दीक्षा लेकर मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्रसन्न किया था।...

... इधर राजा वज्रनाभि राज्य को निष्कण्टक कर उसका पालन करता था और उधर योगिराज भगवान् वज्रसेन भी निर्दोष तपस्या करते थे।...

... वज्रनाभि दुष्ट पुरुषों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का अनुग्रह कर प्रजा का पालन करता था और भगवान् वज्रसेन हित का उपदेश देकर प्रजा (जीवों) की रक्षा करते थे।...

... उस बुद्धिमान और विशाल अभ्युदय के धारक वज्रनाभि चक्रवर्ती ने चिरकाल तक पृथिवी का उपभोग कर किसी दिन अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर से अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रय

---

1. देखें, **'आदिपुराण-१'**, पर्व 11, पृ. 227-234 तथा पर्व 12, पृ. 249-264

का स्वरूप जाना। जो चतुर पुरुष रसायन के समान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों का सेवन करता है वह अचिन्त्य और अविनाशी मोक्षरूपी पद को प्राप्त होता है। हृदय से ऐसा विचार कर उस चक्रवर्ती ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को जीर्ण तृण के समान माना और तप धारण करने में अपनी बुद्धि लगायी। उसने वज्रदन्त नाम के अपने पुत्र के लिए राज्य समर्पण कर सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाइयों और धनदेव के साथ-साथ मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से पिता वज्रसेन तीर्थंकर के समीप भव्य जीवों के द्वारा आदर करने योग्य जिनदीक्षा धारण की।...

... तदनन्तर आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करने वाले धीर-वीर वज्रनाभि मुनिराज ने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के निकट उन सोलह भावनाओं का चिन्तवन किया जो कि तीर्थंकर पद प्राप्त होने में कारण हैं। उन्होंने शंकादि दोषरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया, विनय धारण की, शील और व्रतों के अतिचार दूर किये, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग किया, संसार से भय प्राप्त किया। अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर सामर्थ्य के अनुसार तपश्चरण किया, ज्ञान और संयम के साधनभूत त्याग में चित्त लगाया। साधुओं के व्रत, शील आदि में विघ्न आने पर उनके दूर करने में वे बार-बार सावधान रहते थे क्योंकि हितैषी पुरुषों की सम्पूर्ण चेष्टायें दूसरों के विघ्न दूर करने के लिए ही होती हैं। किसी व्रती पुरुष के रोगादि होने पर वह उसे अपने से अभिन्न मानते हुए उसका वैयावृत्त्य (सेवा) करते थे क्योंकि वैयावृत्त्य ही तप का हृदय है - सारभूत तत्त्व है। वे पूज्य अर्हन्त भगवान् में अपनी निश्चल भक्ति को विस्तृत करते थे, विनयी होकर आचार्यों की भक्ति करते थे, तथा अधिक ज्ञानवान् मुनियों की भी सेवा करते थे। वे सच्चे देव के कहे हुए शास्त्रों में भी अपनी उत्कृष्ट भक्ति बढ़ाते रहते थे, क्योंकि जो पुरुष प्रवचन-भक्ति (शास्त्रभक्ति) से रहित होता है वह बढ़े हुए रागादि शत्रुओं को नहीं जीत सकता है। वे अवश (अपराधीन) होकर भी वश-पराधीन (पक्ष में जितेन्द्रिय) थे और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा रखने वाले समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग - इन छह आवश्यकों का पूर्ण रूप से पालन करते थे। तप, ज्ञान आदि किरणों को धारण करने वाला और भव्य जीवरूपी कमलों को विकसित करने वाला वह मुनिराजरूपी सूर्य सदा जैनमार्ग को प्रकाशित (प्रभावित) करता था। जैन-शास्त्रों के अनुसार चलने वाले शिष्यों को धर्म में स्थिर रखते हुए और धर्म में प्रेम रखने वाले वे वज्रनाभि मुनिराज सभी धर्मात्मा जीवों पर अधिक प्रेम रखते थे। इस प्रकार महा धीर-वीर मुनिराज वज्रनाभि ने तीर्थकरत्व की प्राप्ति के कारणभूत उक्त सोलह भावनाओं का चिरकाल तक चिन्तन किया था। तदनन्तर इन भावनाओं का उत्तम रीति से चिन्तन करते हुए उन श्रेष्ठ मुनिराज ने तीन लोक में क्षोभ उत्पन्न

करने वाली तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध किया।...

... वे मुनिराज अन्त में उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में प्राण छोड़कर सवार्थसिद्धि पहुँचे और वहाँ अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुए।...

... कालसन्धि (भोगभूमि का अन्त और कर्मभूमि का प्रारम्भ होने) के समय इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत से दक्षिण की ओर मध्यम-आर्य खण्ड में नाभिराज हुए थे जो चौदह कुलकरों में अन्तिम कुलकर थे। वे चन्द्रमा के समान कलाओं (अनेक विद्याओं) के आधार थे, सूर्य के समान तेजस्वी थे, इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली थे और कल्पवृक्ष के समान मनचाहे फल देने वाले थे। उन नाभिराज के मरुदेवी नाम की रानी थी जो अपने रूप, सौन्दर्य, कान्ति, शोभा, बुद्धि, द्युति और विभूति आदि गुणों से इन्द्राणी देवी के समान थी।...

... मरुदेवी और नाभिराज से अलंकृत पवित्र स्थान में जब कल्पवृक्षों का अभाव हो गया तब वहाँ उनके पुण्य के द्वारा बार-बार बुलाये हुए इन्द्र ने एक नगरी की रचना की।...

... उस नगरी का नाम अयोध्या था। वह केवल नाममात्र से अयोध्या नहीं थी किन्तु गुणों से भी अयोध्या थी।...

... तदनन्तर छह महीने बाद ही भगवान् ऋषभदेव यहाँ स्वर्ग से अवतार लेंगे ऐसा जानकर देवों ने बड़े आदर के साथ आकाश से रत्नों की वर्षा की। इन्द्र के द्वारा नियुक्त हुए कुबेर ने जो रत्नों की वर्षा की थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानो ऋषभदेव की सम्पत्ति उत्सुकता के कारण उनके आने के पहले ही आ गयी हो।...

... जब अवसर्पिणी काल के तीसरे सुषमदु:षम नामक काल में चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष बाकी रह गया था तब आषाढ़ कृष्ण द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वज्रनाभि अहमिन्द्र, देवायु का अन्त होने पर, सवार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर मरुदेवी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ और वहाँ सीप के सम्पुट में मोती की तरह सब बाधाओं से निर्मुक्त होकर स्थित हो गया। उस समय समस्त इन्द्र अपने-अपने यहाँ होने वाले चिह्नों से भगवान् के गर्भावतार का समय जानकर वहाँ आये और सभी ने नगर की प्रदक्षिणा देकर भगवान् के माता-पिता को नमस्कार किया।"

आचार्य समन्तभद्र

श्रुतमुनि पट्टावलि[1] में आचार्य समन्तभद्र का उल्लेख

...यद्यपि भद्रबाहुस्वामी श्रुतकेवली, मुनीश्वरों (श्रुतकेवलियों) के अन्त में हुए, तो भी ये सभी पण्डितों के नायक तथा श्रुत्यर्थ प्रतिपादन करने से सभी विद्वानों के पूर्ववर्ती थे।

इन्हीं के शिष्य शीलवान् श्रीमान् चन्द्रगुप्त मुनि हुए। इनकी तीव्र तपस्या उस समय भूमण्डल में व्याप्त हो रही थी। इन्हीं के वंश में बहुत से यतिवर हुए, जिनमें प्रखर तपस्या करने वाले मुनीन्द्र कुन्दकुन्दस्वामी हुए।

तत्पश्चात् सभी अर्थ को जानने वाले उमास्वामी (उमास्वाति) नाम के मुनि इस पवित्र आम्नाय में हुए, जिन्होंने श्री जिनेन्द्र-प्रणीत शास्त्र को सूत्ररूप में रूपान्तर किया। सभी प्राणियों के संरक्षण में तत्पर योगी उमास्वामी मुनि ने गृध्रपक्ष को धारण किया। तभी से विद्वद्गण उन्हें गृध्रपिच्छाचार्य कहने लगे। इन योगी महाराज की परम्परा में प्रदीपरूप महर्द्धिशाली तपस्वी बलाकपिच्छ हुए। इनके शरीर के संसर्ग से विषमयी हवा भी उस समय अमृत (निर्विष) हो जाती थी।

इसके बाद जिनशासन के प्रणेता भद्रमूर्ति श्रीमान् समन्तभद्रस्वामी हुए। इनके वाग्वज्र के कठोर पात ने वादिरूपी पर्वतों को चूर्ण-चूर्ण कर दिया था।...

आचार्य समन्तभद्र की स्तुति में कतिपय उत्तरोत्तर तंत्रकर्ताओं के उद्गार

महान् आचार्य जिनसेन **'आदिपुराण'** में आचार्य समन्तभद्र को दो गाथाओं में इस प्रकार से नमस्कार करते हैं-

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥ ४३ ॥

मैं उन महाकवि समन्तभद्र को नमस्कार करता हूँ जो कि कवियों में ब्रह्मा के समान हैं और जिनके वचनरूप वज्र के पात से मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते थे।

---

1. श्रुतमुनि पट्टावलि (शक सं. 1355, ई. सन् 1433) - (देखें, **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'**, चतुर्थ खण्ड, पृ. 410-419)

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥

स्वतन्त्र कविता करने वाले कवि, शिष्यों को ग्रन्थ के मर्म तक पहुँचाने वाले गमक-टीकाकार, शास्त्रार्थ करने वाले वादी और मनोहर व्याख्यान देने वाले वाग्मी इन सभी के मस्तक पर समन्तभद्र स्वामी का यश चूड़ामणि के समान आचरण करने वाला है, अर्थात् वे सब में श्रेष्ठ थे।

आचार्य जिनसेन **'हरिवंशपुराण'** में भी आचार्य समन्तभद्र को नमस्कार करते हैं-

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम् ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥ २९ ॥

जो जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ (पक्ष में जीवों की मुक्ति) के रचयिता हैं तथा जिन्होंने युक्त्यनुशासन नामक ग्रन्थ (पक्ष में हेतुवाद के उपदेश) की रचना की है ऐसे श्री समन्तभद्रस्वामी के वचन इस संसार में भगवान् महावीर के वचनों के समान विस्तार को प्राप्त हैं।

आचार्य नरेन्द्रसेन **'सिद्धान्तसारसंग्रह'** में कहते हैं-

श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम् ।
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥ ११ ॥

श्री समन्तभद्रदेव का निर्दोष प्रवचन प्राणियों के लिये ऐसा ही दुर्लभ है जैसा कि मनुष्यत्व का पाना - अर्थात् अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों को जिस प्रकार मनुष्यभव का मिलना दुर्लभ होता है उसी प्रकार समन्तभद्रदेव के प्रवचन का लाभ होना भी दुर्लभ है; जिन्हें उसकी प्राप्ति होती है वे निःसन्देह सौभाग्यशाली हैं।

आचार्य शुभचन्द्र **'ज्ञानार्णव'** ग्रन्थ में आचार्य समन्तभद्र की महिमा का वर्णन कुछ इस प्रकार से करते हैं-

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥ १४ ॥

जहाँ समन्तभद्रादि कवीन्द्ररूपी सूर्यों की निर्मल उत्तम वचनरूप किरणें फैलती हैं, वहाँ ज्ञानलव से उद्धत खद्योत (जुगनू) के समान मनुष्य क्या हास्यता को प्राप्त नहीं होंगे? अवश्य ही होंगे।

आचार्य समन्तभद्र की रचनाएँ

आचार्य समन्तभद्र ने दर्शन, ज्ञान, सिद्धान्त, न्याय, स्तुति और चारित्र को अपने अप्रतिम काव्य का विषय बनाया है। उनकी निम्नलिखित रचनाएँ मानी जाती हैं-

आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र)
रत्नकरण्डकश्रावकाचार
स्वयम्भूस्तोत्र
युक्त्यनुशासन (वीरजिनस्तोत्र)
स्तुतिविद्या (जिनशतक, जिनस्तुतिशतं, जिनशतकालङ्कार)
जीवसिद्धि
गन्धहस्तिमहाभाष्य

आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित प्रारम्भ के पाँच ग्रन्थ तो सर्वजनसुप्रसिद्ध हैं, उन पर अनेक आचार्यों ने टीकाएँ भी लिखी हैं। अन्त की दो रचनाएँ वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं।

आचार्य समन्तभद्र का समय-निर्णय

आचार्य समन्तभद्र ने अपने अस्तित्व से इस भारत-भूमि को कब पवित्र किया इसके विषय में शोधकर्ता विद्वानों में मतभेद है।

प्रसिद्ध विद्वान् जुगलकिशोर मुख्तार ने आचार्य समन्तभद्र के समय-निर्णय के विषय पर गूढ़ विवेचन और शोध किया है जो उन्होंने **'रत्नकरण्डकश्रावकाचार'** की अपनी प्रस्तावना में लगभग अस्सी पृष्ठों के विस्तृत आलेख में प्रस्तुत किया है। उनका निष्कर्ष इस प्रकार है-

"...इतना तो सुनिश्चित है कि समन्तभद्र विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से पीछे अथवा ईसवी सन् 450 के बाद नहीं हुए; और न वे विक्रम की पहली शताब्दी से पहले के ही विद्वान् मालूम होते हैं - पहली से पाँचवीं तक पाँच

शताब्दियों के मध्यवर्ती किसी समय में ही वे हुए हैं। स्थूल रूप से विचार करने पर हमें समन्तभद्र विक्रम की प्रायः दूसरी या दूसरी और तीसरी शताब्दी के विद्वान् मालूम होते हैं।"[1]

आचार्य समन्तभद्र का महाकाव्य 'स्तुतिविद्या'

जिनशासन प्रणेता आचार्य समन्तभद्र ने इस ग्रन्थ 'स्तुतिविद्या' में, जिसका अपरनाम 'जिनशतक' अथवा 'जिनस्तुतिशतं' है, अत्यन्त अलंकृत भाषा में चतुर्विंशतिस्तव - चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन - किया है। इस ग्रन्थ के काव्य-कौशल की व्याख्या जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने प. पन्नालाल जैन (1950) द्वारा अनुवादित 'स्तुतिविद्या' ग्रन्थ के लिए लिखित अपनी प्रस्तावना में इन शब्दों में की है-

"यह ग्रन्थ शब्दालंकार, अर्थालंकार और चित्रालंकार के अनेक भेद-प्रभेदों से अलंकृत है और इसी से टीकाकार महोदय ने टीका के प्रारम्भ में ही इस कृति को 'समस्तगुणगुणोपेता' विशेषण के साथ 'सर्वालंकारभूषिता' (प्रायः सब अलंकारों से भूषित) लिखा है। सचमुच यह गूढ़ ग्रन्थ ग्रन्थकार महोदय के अपूर्व काव्य-कौशल, अद्भुत व्याकरण-पाण्डित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्य को सूचित करता है। इसकी दुर्बोधता का उल्लेख टीकाकार ने 'योगिनामपि दुष्करा' - योगियों के लिये भी दुर्गम (कठिनता से बोधगम्य) - विशेषण के द्वारा किया है और साथ ही इस कृति को 'सद्गुणाधारा' (उत्तम गुणों की आधारभूत) बतलाते हुए 'सुपद्मिनी' भी सूचित किया है और इससे इसके अंगों की कोमलता, सुरभिता और सुन्दरता का भी सहज सूचन हो जाता है, जो ग्रन्थ में पद-पद पर लक्षित होती है।"[2]

---

1. देखें, जुगलकिशोर मुख्तार (श्री वीर-निर्वाण संवत् 2451 तदनुसार ई.स. 1925) **'श्रीमन्समन्तभद्रस्वामिविरचितो रत्नकरण्डकश्रावकाचारः'**, मणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, प्रस्तावना, 'समय-निर्णय', पृ. 115-196

2. देखें, अनुवादक - प. पन्नालाल जैन, प्रस्तावना - जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' (श्री वीर-निर्वाण संवत् 2476 तदनुसार ई.स. 1950) **'श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिता स्तुतिविद्या (जिनशतक)'**, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, प्रस्तावना, पृ. 5

स्तुति का स्वरूप

'स्तुति' शब्द का अर्थ है प्रशंसा, गुणकीर्तन, सराहना। अथवा प्रशंसाकारक सूक्त, काव्य या स्तोत्र भी 'स्तुति' कहलाता है। जिसकी स्तुति की जाती है वह श्लाघ्य पात्र 'स्तुत्य' कहलाता है। जिसके द्वारा स्तुति की जाती है वह 'स्तोता', 'स्तवक' वा 'स्तावक' कहलाता है। स्तुति-क्रिया को 'स्तवन' कहते हैं।

लोक-व्यवहार में स्तुति का उपयोग स्तुत्य को प्रसन्न करने के लिए होता है। स्तुत्य को प्रसन्न करके स्तोता अपने लौकिक कार्यों को सिद्ध करना चाहता है। इसीलिए वह अपनी स्तुति द्वारा स्तुत्य की जितनी उसके लिए सम्भव हो - बढ़-चढ़ कर - प्रशंसा करता है। परन्तु परमवीतराग देव के साथ ऐसा करना न तो युक्तियुक्त है न ही सम्भव है।

ऐसा करना युक्तियुक्त तो इसलिए नहीं है क्योंकि जिनदेव वीतराग हैं, वे राग अथवा द्वेष से सर्वथा विमुक्त हैं। उनको प्रशंसा या निन्दा से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं-

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥१२-२-५७॥

- आचार्य समन्तभद्र, **'स्वयम्भूस्तोत्र'**

अर्थ - हे नाथ ! आप वीतराग हैं इसलिए आपको अपनी पूजा होने से कोई प्रयोजन नहीं है। आप वैर रहित हैं इसलिए आपको अपनी निन्दा होने से भी कोई प्रयोजन नहीं है। तो भी आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पापरूपी मल से पवित्र कर ही देता है।

लोक-व्यवहार के परिपेक्ष में अनन्तगुणसम्पन्न परमवीतराग जिनेन्द्र देव को प्रसन्न करने के लिए उनकी स्तुति करना सम्भव क्यों नहीं है, इसका विवेचन इस प्रकार से है-

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥१८-१-८६॥

- आचार्य समन्तभद्र, **'स्वयम्भूस्तोत्र'**

अर्थ - हे अरनाथ जिन! गुणों की अल्पता का उल्लंघन करके उनकी अधिकता

का कथन करना स्तुति कहलाती है। किन्तु आपके गुण तो अनन्त हैं इसलिए उनका वर्णन करना अशक्य है, तब आपकी स्तुति किस प्रकार सम्भव है?

याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाऽऽख्या
लोके स्तुतिर्भूरिगुणोदधेस्ते ।
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो
वक्तुं जिन! त्वां किमिव स्तुयाम ॥२॥

– आचार्य समन्तभद्र, **'युक्त्यनुशासन'**

अर्थ – यथार्थता का उल्लंघन करके, गुणों के उदय-उत्कर्ष की जो आख्या-कथनी है, उसे लोक में 'स्तुति' कहा जाता है। परन्तु हे वीर जिन! आप भूरिगुणोदधि – अनन्त गुणों के समुद्र – हैं और उस गुणसमुद्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश का भी हम कथन करने के लिए समर्थ नहीं हैं, तब हम (छद्मस्थजन) किस तरह आपकी स्तुति करके स्तोता बनें?

बड़े-बड़े इन्द्र भी समस्त विद्याओं के स्वामी जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करने में अपने को असमर्थ पाते हुए बस यही कहते हैं-

"हे जिननाथ, यह निश्चय है कि आपके विषय में की हुई भक्ति ही इष्ट फल देती है इसीलिए हम लोग बुद्धिहीन तथा मन्दवचन होकर भी गुणरूपी रत्नों के खजाने स्वरूप आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हो रहे हैं। हे भगवन्, जिन्हें बुद्धि की सामर्थ्य से कुछ वचनों का वैभव प्राप्त हुआ है ऐसे हम लोग केवल आपकी भक्ति ही कर रहे हैं सो ठीक ही है क्योंकि जो पुरुष अमृत के समुद्र का सम्पूर्ण जल पीने के लिए समर्थ नहीं है वह क्या अपनी सामर्थ्य के अनुसार थोड़ा भी नहीं पीये? अर्थात् अवश्य पीये। हे देव, कहाँ तो जड़बुद्धि हम लोग, और कहाँ आपका पापरहित बड़ा-भारी गुणरूपी समुद्र। हे जिनेन्द्र, यद्यपि इस बात को हम लोग भी जानते हैं तथापि इस समय आपकी भक्ति ही हम लोगों को वाचालित कर रही है। हे देव, यह आश्चर्य की बात है कि आपके जो बड़े-बड़े उत्तम गुण गणधरों के द्वारा भी नहीं गिने जा सके हैं उनकी हम स्तुति कर रहे हैं अथवा इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि जो मनुष्य आपकी प्रभुता को प्राप्त हुआ है वह क्या करने के लिए समर्थ नहीं है?

अर्थात् सब कुछ करने में समर्थ है। इसलिए हे जिनेन्द्र, आपके विषय में उत्पन्न हुई अतिशय निगूढ़, निश्चल और अपरिमित गुणों का उदय करने वाली विशाल भक्ति ही हम लोगों को स्तुति करने के लिए इच्छुक कर रही है और इसीलिए हम लोग आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुए हैं।"

– **'आदिपुराण'**, पृ. 557

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्त्रं नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक् किमुतातिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥६-५-३०॥

– आचार्य समन्तभद्र, **'स्वयम्भूस्तोत्र'**

अर्थ – जब पहले से ही इन्द्र आप परम ऋषि के गुणों के सागर (समूह) की एक बूँद (अंश-मात्र) की भी निरन्तर स्तुति करने के लिए समर्थ न हो सका तब मेरे समान अल्पज्ञानी आपकी कैसे स्तुति कर सकता है? अर्थात् मैं तो असमर्थ ही हूँ। परन्तु आप में जो मेरी परम भक्ति है वही मुझ बालक-सम अज्ञानी को आप ऐसे हैं व इस प्रकार हैं, ऐसा स्तवन करने के लिए प्रेरणा कर रही है।

जो लोक में काम-सुखादि की इच्छापूर्ति के लिये विभिन्न प्रकार के देवों की स्तुति, आराधना, सेवा, पूजा, अर्चना का प्रचलन है, क्या वह युक्त है?

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखै-
र्देवान् किलाऽऽराध्य सुखाभिगृद्धाः ।
सिद्ध्यन्ति दोषाऽपचयाऽनपेक्षा
युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥३९॥

– आचार्य समन्तभद्र, **'युक्त्यनुशासन'**

अर्थ – जीवात्मा के लिये दुःख के निमित्तभूत जो अपने या बकरे आदि के सिर की बलि चढ़ाना आदि के द्वारा देवों की आराधना करके केवल वे ही लोग सिद्ध होते हैं – अपने को सिद्ध समझते हैं या घोषित करते हैं – जो दोषों के अपचय (विनाश) की अपेक्षा नहीं रखते और काम-सुखादि के लोलुपी हैं। और यह बात उन्हीं के लिए युक्त है जिनके, हे वीर जिन! आप ऋषि-गुरु नहीं हैं।

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

– आचार्य समन्तभद्र, **'रत्नकरण्डकश्रावकाचार'**

अर्थ – वरदान प्राप्त करने की इच्छा से, आशा से युक्त हो, राग-द्वेष से मलिन देवों की जो आराधना की जाती है वह देवमूढ़ता कही जाती है।

जिनेन्द्र देव ने मोहादिरूप कर्म-शत्रुओं की सेना को पूर्णरूप से पराजित किया है, निःश्रेयस पद को अधिगत (स्वाधीन) किया है और देवेन्द्रों और मुनीन्द्रों (गणधरदेवादि) जैसे स्वयं स्तुत्यों के द्वारा स्तुत्य हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग के समकक्ष कोई भी दूसरा मार्ग नहीं है।

ऐसे जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करने का कारण यही है कि उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग की अमोघता और उससे अभिमत फल की सिद्धि को देखकर उसके प्रति हमारा अनुराग (भक्तिभाव) उत्तरोत्तर बढ़े जिससे हम भी उसी मार्ग की आराधना-साधना करते हुए कर्मशत्रुओं की सेना को जीतने में समर्थ हो सकें और निःश्रेयस (मोक्ष) पद को प्राप्त कर सकें। सच्ची सविवेक-भक्ति ही मार्ग का अनुसरण करने में परम सहायक होती है और जिसकी स्तुति की जाती है उसके मार्ग का अनुसरण करना अथवा उसके अनुकूल चलना ही स्तुति को सार्थक करता है।

सारांश यह है कि हम जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति अपने स्वयं के परिणामों को निर्मल बनाने के लिये करते हैं।

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वां विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥२१-१-११६॥

– आचार्य समन्तभद्र, **'स्वयम्भूस्तोत्र'**

अर्थ – जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति भव्य पुरुष, पुण्य-साधक (स्तोता) के शुभ परिणाम के लिए होती है। चाहे उस समय स्तुत्य (स्तुति का आराध्य देव) विद्यमान हो या न हो, और चाहे स्तुति करने वाले भव्य पुरुष (स्तोता) को स्तुत्य के द्वारा स्वर्गादि फल की प्राप्ति होती हो या न होती हो। इस प्रकार जगत् में

स्वाधीनता से कल्याण-मार्ग के सुलभ होने पर कौन विवेकी पुरुष है जो सर्वदा इन्द्रादि के द्वारा पूज्य श्री नमिनाथ जिनेन्द्र की स्तुति न करे?

जिनागम में सम्यग्दर्शन की अपार महिमा का विस्तृत वर्णन है। सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग के विषय में कर्णधार अथवा खेवटिया कहा गया है। प्राणियों के तीनों कालों में और तीनों लोकों में भी सम्यग्दर्शन के समान कल्याण-रूप दूसरा कोई नहीं है। सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव उत्साह, प्रताप-कान्ति, विद्या, बल-पराक्रम, यश-कीर्ति, वृद्धि-उन्नति, विजय और वैभव-सम्पत्ति का स्वामी, उच्चकुलोत्पन्न और (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप) पुरुषार्थ से सहित, मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है। सम्यग्दर्शन से सहित भगवान् जिनेन्द्र के भक्त-पुरुष स्वर्ग में देवों और देवियों (अप्सराओं) की सभा में अणिमा आदि आठ गुणों की पुष्टि से सन्तुष्ट और विशेष सुन्दरता (शोभा) से सहित होते हुए बहुत काल तक क्रीड़ा करते हैं।[1]

सुहृत् त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥१४-४-६९॥

– आचार्य समन्तभद्र, **'स्वयम्भूस्तोत्र'**

अर्थ – हे जिनेन्द्र! आप में जो भक्तिवान् होता है अर्थात् जो आपके गुणों को स्मरण करता है वह लक्ष्मी के वल्लभपने को अर्थात् अनेक ऐश्वर्य-सम्पदा को प्राप्त करता है। जो आपसे द्वेष करता है अर्थात् आपकी निन्दा करता है ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव व्याकरण में प्रत्यय के लोप के समान नाश को प्राप्त होता है। आप तो उन दोनों पर अत्यन्त ही उदासीन रहते हैं, आपका तो उन पर न राग है न द्वेष है। आपकी यह चेष्टा बड़ी ही आश्चर्यकारी है।

स्तुति एक विद्या है

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्तुति वास्तव में एक विद्या है। सम्यक् स्तुति घने, कठोर घातिया-कर्म रूपी ईंधन को भस्म करने वाली समर्थ अग्नि है। इस विद्या को जानने वाला सहज ही पापों को जीतने और अपना आत्मविकास सिद्ध करने में समर्थ होता है। इस विद्या की सिद्धि के लिये स्तोता को स्तुत्य के गुणों का परिचय चाहिये, उन गुणों में

1. देखें, **'रत्नकरण्डकश्रावकाचार',** श्लोक 31, 34, 36, 37

वर्द्धमान अनुराग चाहिये, और ऐसी दृढ़ श्रद्धा चाहिये कि स्तुत्य के गुण ही आत्मगुण हैं और उनका विकास मेरे द्वारा मेरी आत्मा में सम्भव है। साथ ही मन-वचन-काय रूप योग को स्तुत्य के प्रति एकाग्र करने की कला आनी चाहिये। इस कला को विकसित करने के लिये निरन्तर यह भावना भानी होती है कि 'वह अनन्तज्ञानस्वरूप परमात्मा मैं हूँ'। भेद-विज्ञान के द्वारा आत्मा को सर्व बाह्यपदार्थों से सर्वथा भिन्न जाना जाता है। साथ ही सम्पूर्ण (पाँचों) इन्द्रियों को संयमित करने पर अन्त:करण के द्वारा क्षणमात्र के लिये जो चिदानन्दस्वरूप प्रतिभासित होता है, वही परमात्मा का स्वरूप है।

आचार्य समन्तभद्र 'स्तुतिविद्या' में जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति किस प्रकार से करते हैं, स्तुति का क्या उद्देश्य रखते हैं और भगवान् से क्या प्रार्थना करते हैं? इसके कुछ दृष्टान्त निम्न हैं-

मोहादिक पापकर्मों और हिंसादिक दुष्कृतों पर विजय प्राप्त करने के लिये मैं इस स्तुतिविद्या नामक जिनस्तोत्र की रचना करना चाहता हूँ - सब प्रकार से सिद्ध करने के लिये उद्यत हुआ हूँ। (पद्य-1)

जिनेन्द्रदेव का अपरिमित गुणसमुद्र अत्यन्त निर्मल, गम्भीर, पवित्र, श्रीसम्पन्न और जगत् का सारभूत है। तुम उसमें एकाग्रचित्त होकर स्नान करो, उसके गुणों को पूर्णतया अपनाओ और शीघ्र ही मोक्षपद को प्राप्त करो। (पद्य-2)

अगाध ज्ञानसमुद्र के पारगामी भगवान् शरणागत भव्य पुरुषों को केवलज्ञानादि लक्ष्मी से विस्तृत करते हैं। (पद्य-3)

सब में माध्यस्थ भाव रखने वाले होने पर भी आप में आश्रय (शरण) लेने वाले जीव कल्याण को प्राप्त होते हैं। मद की जिनके हानि नहीं है (अर्थात् जो रागी-द्वेषी हैं) उनका आश्रय लेने वाले जीव बार-बार दु:ख को ही प्राप्त होते हैं। (पद्य-9)

जो ज्ञानवान् पुरुष कर्मों का शमन करने के लिये तथा अविनाशी-अक्षय पद को प्राप्त करने के लिये सम्यक् प्रकार से (शुद्ध निर्मल मन-वचन-काय से) केवलज्ञान से सम्पन्न आपकी स्तुति के विषय में लीन होता है वह (कायक्लेशादि के द्वारा) दु:ख को पाकर भी शोभनीय पुण्य-स्वरूप अनन्तकालीन परम सुख को प्राप्त होता है। (पद्य-11, 12)

यद्यपि आप ममताभाव (मोह परिणामों) से रहित हैं, तो भी संसार-सम्बन्धी अनेक बड़ी-बड़ी व्याधियों को नष्ट कर देते हैं। हे प्रभो! आप मेरे भी जन्म-मरण रूप रोग को नष्ट कीजिये। (पद्य-14)

निश्चय ही जो आपका गुणगान करता है उसकी वाणी महिमा को प्राप्त होती है, इसलिये मैं आपके चरणों की स्तुति करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। (पद्य-15)

हे भव्य जीवों के अज्ञान अंधकार का नाश करने वाले, दूसरे हरिहरादिक के द्वारा नहीं जीते जाने वाले, मोहनीय आदि कर्मों को जीतने वाले, ज्ञानादि गुणों से वृद्धि को प्राप्त, भगवान्! मेरे लिये समीचीन (केवल) ज्ञान को प्रदान करो। (पद्य-16)

हे शंभवनाथ जिनेन्द्र! संसार के दःखों से भयभीत होकर, शरीर के साथ आपके समीप आया हूँ, मेरा आचार पवित्र और उत्कृष्ट है, आपके चरणों में नतमस्तक हुए मेरी स्वकीय (अपने) तेज (ज्ञान) के द्वारा रक्षा कीजिये। (पद्य-18, 19)

आप अपनी अभिमत विशाल लक्ष्मी से अनन्तज्ञानी हुए हो। यह धाम अथवा स्थान जो अनन्त, प्रशंसनीय सुख से सहित है, मुझे प्रदान कीजिये। (पद्य-20)

आप मोह से रहित हैं, सबके द्वारा वन्दनीय हैं, महान् अनन्त-चतुष्टय और अष्ट-प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी से युक्त हैं, जन्म-मरण से रहित हैं, मोक्षमार्ग के उपदेष्टा भगवान् हैं; प्रभु मेरी रक्षा करो, मुझे संसारी दुःखों से बचाओ। (पद्य-21)

आपको नमस्कार करने वाला पुरुष आपके ही समान स्वामी (परमात्मा, ईश्वर) बन जाता है। जो आपकी स्तुति कर नम्र हुए हैं वे कभी नष्ट नहीं होते, अवश्य ही अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त होते हैं। (पद्य-22)

आपको विशिष्ट-रूप से नमस्कार करने वाला स्तुति करके अवश्य ही अनन्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण से रहित अविनाशी पद को प्राप्त हो जाता है। (पद्य-23)

आप केवलज्ञानादि गुणों की वृद्धि को प्राप्त हैं, आपको प्राप्त कर (आपकी चरण-शरण में आकर) कोई भी जीव नष्ट नहीं हुआ है - संसार-समुद्र में नहीं भटका है - अपितु आपको नमस्कार नहीं करके ही वह नष्ट हुआ है - संसार में परिभ्रमण कर रहा है। (पद्य-24)

आपके द्वारा प्ररूपित आगम और आपकी चेष्टाएँ उत्तम हैं, आप जन्म-मरण के दुःखों से रहित हैं, सबके स्वामी हैं, हमारे लिये वह कल्याण-लक्ष्मी प्रदान करो। (पद्य-25)

आपकी आभा से कोटि सूर्य का तेज लुप्त हो जाता है। हे भव्यजीवों को सम्यग्ज्ञान के प्रदाता पद्मप्रभ जिनेन्द्र! आप मेरे भी पापकर्म नष्ट करो। (पद्य-27)

हे स्वामिन् पद्मप्रभ जिनेन्द्र! आपको अन्तरहित, अविनाशी मानकर, मैं निर्लज्ज होकर

आपको नमस्कार करता हूँ, आपकी पूजा करता हूँ। (पद्य-28)

आप स्तुति करने वाले और कोप (निन्दा) करने वाले दोनों के विषय में समान ही हैं, क्योंकि आप अग्नि के समान नहीं हैं अपितु अति-निर्मल (राग-द्वेष से रहित) हैं। आप नेता के समान आश्रय करने योग्य हैं। (पद्य-29)

जिस अत्यन्त दु:ख देने वाले, अतिसघन, आन्तरिक मोहरूपी अन्धकार को भेदने (नाश करने) के लिए सहस्र किरणों वाला सूर्य भी समर्थ नहीं है, उस महान् अन्धकार को हे चन्द्रप्रभ भगवान्! आप जड़-मूल से नष्ट कर देते हैं। (पद्य-33)

हे जन्मरहित सर्वज्ञ भगवन्! हमारे लिए शीघ्र ही वह सुख दीजिये जिससे इस संसार में दु:ख का बन्ध नहीं हो, और शीघ्र ही कल्याण हो। (पद्य-37, 38)

आपका यह पवित्र मत (आगम) आस्वादन - श्रवण-पठन-चिन्तन - किये जाने पर भव्य जीवों को अत्यन्त रुचि के लिए, दीप्ति के लिए और प्रीति के लिए भी होता है। अमृत किस बुद्धिमान के लिए रुचिकर नहीं होता है, भले ही वह उससे द्वेष ही रखता हो? (पद्य-40)

यह आश्चर्य की बात है कि पृथिवीगत प्राणियों के (पक्ष में ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलों के) घातक होकर भी आप पालक (रक्षक) ही हैं, और शीतगुण विशिष्ट (पक्ष में शीतलनाथ भगवान्) होकर भी आप पावक-अग्नि (पक्ष में पवित्र करने वाले) ही हैं। (पद्य-41)

आप में प्रयत्नपूर्वक की गई, समीपीकृत होकर (मन-वचन-काय को एकाग्र करके) की गयी पूजा-भक्ति सांसारिक क्लेश या दु:खों को नष्ट करती है, पुण्य की रक्षा करती है, तथा कल्याण के लिए होती है। निश्चय से हे भगवन्! आप ही सर्वश्रेष्ठ नायक हैं। (पद्य-43)

आपके पदारविन्द को प्राप्त हुआ भव्य प्राणी भय को नाश कर, हर्षित होकर, सम्यक् प्रकार से आश्रय लेने योग्य (आपके पदारविन्द की) भक्ति-वन्दना आदि करता है। आपके दर्शनमात्र से वह नीरोगता और निर्भयता को प्राप्त हो जाता है। अत: (हे श्रेयांसदेव!) मेरी रक्षा करो। (पद्य-46, 47)

सर्वज्ञ भगवान् के ही चरण-कमलों में नमस्कार करने वाला (पुरुष) उच्च और पुण्यवान् होता हुआ शोभित होता है। (पद्य-49)

आपकी स्तुति करने से भव्य पुरुषों को अनेक कल्याण प्राप्त होते हैं, वे सांसारिक दु:खों से

छूट जाते हैं, इसलिये मैं भी अत्यन्त हर्षित हुआ, दु:खों का नाश करने के लिए, मृत्यु से रहित तथा अज्ञान को नाश करने वाले इन विमलनाथ भगवान् की शरण में जाता हूँ। (पद्य-51)

हे पापरहित विमलनाथ भगवान्! आप शरणागत संसार में भटकने वाले प्राणियों को बिना क्लेश, शरीर-रहित कर देते हैं (अर्थात् सिद्धत्व-पर्याय प्राप्त करा देते हैं)। (पद्य-52)

हे कर्मशत्रुओं के घातक, विमलनाथ स्वामी! आप मुझे इस जन्म-मरणरूप विनाश से दूर कीजिये जिससे मैं भी पूजा को प्राप्त होऊँ, आपकी तरह उत्तम स्थान को (निर्वाणपद को) प्राप्त हो सकूँ। (पद्य-53)

जो आपके चरणों में नम्र रहते हैं तथा परिपूर्ण हैं ऐसे इन्द्र, चक्रवर्ती आदि समस्त नायक - प्रधान-पुरुष - भी मोक्षप्राप्ति के लिए, बिना किसी क्लेश के, सहज स्वभाव से प्रेरित होकर, आपको नमस्कार करते हैं। (पद्य-55)

कोई भी आपके गुणों का वचनों के द्वारा कथन करने में समर्थ नहीं है; फिर भी क्षण-भर की आपकी भक्ति से भक्तपुरुष अपनी आत्मा को पवित्र कर लेता है। (पद्य-59)

भव्यपुरुष आप केवलज्ञानी की आराधना-सेवा से परमतत्त्वभूत (केवलज्ञान सहित) होता हुआ वचनों को (दिव्यध्वनि को) और गम्भीर तेज को धारण करता है। (पद्य-60)

हे भगवन्! जिस भव्य-प्राणी ने आपको स्वामी मान कर अपने हृदय में धारण किया हो वह पुण्यवान् क्यों न होगा? अवश्य होगा। (पद्य-66)

आपके महान्, अविनाशी गुणरूपी मेरु-पर्वत की इस प्रकार न्याय की परिपाटी से स्तुति करने वाले कौन प्रसिद्ध पुरुष दिशाभूल होते हैं? अर्थात् कोई भी नहीं। (पद्य-67)

आप समस्त परिग्रह को और समस्त पृथिवी को छोड़कर दीक्षित हो गये थे - नग्न-दिगम्बर मुनि बन गये थे - फिर भी लोकत्रय के समस्त प्राणी आपके उपदिष्ट मार्ग पर चलते थे। (पद्य-68)

जो भव्य प्राणी बहुलता से आपका आश्रय लेते हैं वे आपकी श्री से - उत्कृष्ट लक्ष्मी से अथवा आपके जैसे पद से - शीघ्र ही सुशोभित होते हैं। (पद्य-70)

हे भगवन्! आप शारीरिक व्याधि रूप रोगों और कुत्सित-आचरणरूप पापों का नाश करने वाले हैं। अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट कर देने से आपकी बड़ी महिमा है। (पद्य-76)

हे भगवन्! आप तिरस्कार के घातक और संसार-पर्याय के नाशक हैं। अलोकाकाश, चतुर्गतिभ्रमण के कारण कर्मपुञ्ज और षड्द्रव्यात्मक पृथिवीलोक के ज्ञाता हैं। क्लेश के विनाशक तथा जड़ता-मूर्खता का उच्छेद करने वाले हैं। (पद्य-77)

नष्ट कर दी है दु:खी जीवों की महती पीड़ा को जिन्होंने, नय और प्रमाण रूप वचनों की किरणों से नष्ट कर दिया है भव्य जीवों के अज्ञान अन्धकार को जिन्होंने, ऐसे शान्तिनाथ भगवान् के लिए मैं इन स्तोत्रों को प्रयत्नपूर्वक रचकर प्रार्थना करता हूँ। (पद्य-78)

हे शोभायमान! मेरा मानसिक उद्वेग यद्यपि नष्ट नहीं हुआ है तथापि नष्टमान के समान हो रहा है, मैं आपके चरणों में आनत हूँ - आपको मन-वचन-काय से नमस्कार करता हूँ। मुझे अपने ही समान समृद्ध करो, अपने जैसी अवस्था मुझे प्रदान करो। (पद्य-79)

आप कुन्थुनाथ भगवान् को नमस्कार करने वाला पुरुष पृथिवी-लोक में सब तरह के रोगों से रहित होता है और (परलोक में) मोक्ष के लिये गमन करता है, अथवा स्वर्ग में उत्पन्न होता है। (पद्य-81)

हे भगवन्! आप सब जीवों को आश्रय देने में समर्थ हैं। इस लोक में जो पुरुष आपको नमस्कार करता है वह अत्यन्त हीन - निकृष्ट अथवा नीच - होने पर भी अतिगुरु - अतीव श्रेष्ठ अथवा उच्च - हो जाता है। (पद्य-82)

आप पापों के नाश करने वाले हैं। ज्ञानादि गुणों से वृद्ध हैं। क्षय-रहित हैं। आपकी क्षमा अपार और अविनाशी है। इसलिये आप मुझ वृद्ध को भी प्रसन्न कीजिये, सुशोभित कीजिये तथा पालित कीजिये। (पद्य-84)

हे स्वामिन्! आप बुढ़ापा और व्याधियों से रहित हैं, समता भाव के धारी हैं, शोभनीय महान् पुरुष आपकी स्तुति करते हैं, ऐसे हे भगवन्! मेरी रक्षा करो। (पद्य-86)

आप समस्त रोगों - आधि-व्याधि - को नष्ट करने वाले हैं। शोभनीय कान्ति के स्वामी हैं। अविनाशी हैं। हे भगवन्! मेरे लिये सुख ही विस्तृत करो अर्थात् मुझको मोक्षसुख प्रदान कीजिये, और मेरी रक्षा कीजिये। (पद्य-87)

हे स्वामिन्! क्रीड़ा, पीड़ा, वृद्धत्व और अहंकार से रहित अरनाथ भगवान्! मेरे लिए सुख-शान्ति ही प्राप्त कराओ, मुझे संसार के दु:खों से छुड़ाओ। (पद्य-88)

आप श्रेष्ठ और अविनाशी ज्ञानादि विभूति से युक्त हैं। दु:खदायी चारों गतियों और चौरासी

लाख योनियों में भ्रमण करने वाले मेरी रक्षा करो। मुझे संसार-परिभ्रमण से मुक्त करो। (पद्य-89)

आप महान् आगम, दिव्यध्वनि और तेज (ज्ञान) वाले हैं। आपकी स्तुति करने पर साधु-पुरुष अविनाशी कीर्ति वाला तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर महान् पुण्यवान् हो जाते हैं। ऐसा जानकर निरन्तर मल्लिनाथ भगवान् की स्तुति करो। (पद्य-90)

हे मुनिसुव्रत भगवन्! हमारी (स्तुति करने वालों की) ग्लानि को और अनादिकाल से आत्मप्रदेशों में स्थित घोर राग-द्वेषादि पापकर्मों को दूर करो, नाश करो। (पद्य-91)

हे नामनमन:! मैं मन में चिन्तवन करता हूँ, पश्चात् नमस्कार करता हूँ, आपकी स्तुति करता हूँ। मेरा सदा ध्यान रखिये। मैं आपके समान पूर्ण ज्ञानी और मोह-रहित होना चाहता हूँ। (पद्य-93)

हे नमिनाथ भगवान्! आप निश्चय से मेरे मन को प्राप्त होओ, मेरे हृदय मन्दिर में प्रवेश काजिये, जिससे कि मैं ज्ञानादि गुणों के घातक कर्मों से रहित हो जाऊँ, मेरी स्वतन्त्रता मुझे प्राप्त हो सके। (पद्य-94)

हे प्रभो! आप प्रकटरूप से जिस स्वात्मीय अनन्त सुख के धनी हो वह अनन्त सुख मुझे भी शीघ्र दीजिये। मैं आप जैसा बन जाऊँ, मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये। (पद्य-96)

हे आर्य-पुरुषों में श्रेष्ठ प्रभुवर! मुझे वह सर्वोत्कृष्ट मोक्षरूप-सुख ही प्रदान कीजिये जिसके आप नायक हैं; अन्य सांसारिक सुखों की मुझे इच्छा नहीं है। (पद्य-98)

आप पार्श्वनाथ भगवान् के चरण-कमल भव्य जीवों को विजय प्रदान करने वाले हैं। आप दुस्तर पापों का क्षय करने के लिये समर्थ हैं। हे भगवन्! आपके चरण-कमल हमारे अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करें। (पद्य-99)

ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिये हैं शत्रु जिन्होंने, अर्थात् आपने अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप शस्त्र के द्वारा अन्तरंग और बहिरंग शत्रुओं का नाश कर दिया है। अत: हे प्रभो! आपके लिये नमस्कार हो। (पद्य-104)

हे देवों के द्वारा पूजनीय प्रभो! जो बुद्धिमान्, ज्ञानी पुरुष आप पूजनीय की भी विशिष्ट स्तुति-स्तोत्रों के द्वारा स्तुति करता है वह शीघ्र ही सारभूत अपनी आत्मा का अनुभव करता हुआ संसार से पीड़ा-रहित हो जाता है। (पद्य-107)

(हम लोग) संसारी दु:खों से पीड़ित हैं, मानसिक-शारीरिक व्याधियों से व्याप्त हैं, और आपके चरणों में विनत हैं। हम सांसारिक प्राणियों के नूतन पापों को भक्षण करो अर्थात् मेरे कर्मों के आस्रव को रोको और पुरातन कर्मों का नाम न रहे। (पद्य-109)

हे भगवन्! नमस्कार करने वाले मनुष्यों की रक्षा करते हुए, उनके काम-क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को भी नष्ट करते हुए, उनको समृद्ध-सम्पन्न करते हुए, और पवित्र - राग-द्वेष से रहित - करते हुए, केवलज्ञान लोचन वाले आप चिरकाल तक जयवन्त रहें। (पद्य-111)

हे नित्य स्थिर भगवन् श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र! आप अपने भक्तजनों की क्रूर, कठोर और दुर्द्धर रोगों से रक्षा करते हुए मुझ चिरस्नेही भक्त (आचार्य समन्तभद्र) की भी रक्षा कीजिये। (पद्य-112)

बुद्धि वही है जो अतिशय रूप से आपका स्मरण करे, ध्यान करे। मस्तक वही है जो आपके चरणयुगल में नत रहे। वही जन्म श्रेष्ठ और सफल है जिस जन्म में भव को अर्थात् संसार-परिभ्रमण को नष्ट करने वाले आपके चरणों का आश्रय लिया गया हो। और वही मानव परम पवित्र है जो आपके मत में लीन हो, अनुरक्त हो। वह ही वाणी है जो आपकी स्तुति करे। (पद्य-113)

मेरी श्रद्धा आपके मत में ही है। मैं स्मरण भी आपका ही करता हूँ। मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ। मेरे दोनों हाथ भी आपको अंजुलि बाँधने के लिये ही हैं। मेरे कान भी आपकी कथा सुनने में रत हैं। मेरी आँखें भी आपके रूप को देखने में लीन हैं। मेरा व्यसन आपकी स्तुति करने का ही है। मेरा शिर भी आपको नमस्कार करने में तत्पर रहता है। (पद्य-114)

जिन (वीतराग प्रभु) का संस्तवन-स्तुति संसार रूपी अटवी को भस्म करने के लिये अग्नि के समान है। जिनका स्मरण भी क्लेश रूप समुद्र को पार करने के लिये नौका के समान है। जिनके दोनों चरण-कमल भक्त पुरुषों के लिये परम-उत्कृष्ट निधान-खजाने के समान हैं। जिनकी श्रेष्ठ प्रतिकृति-प्रतिमा सब कार्यों को सिद्ध कराने वाली है। (पद्य-115)

जो इस समय अविनाशी मोक्षस्थान को पाकर परम ऐश्वर्य का अनुभव कर रहे हैं, जिनको नमस्कार करने मात्र से पूर्णरूप से अनन्त सुख प्राप्त हो जाता है, जिनकी भक्ति से यह जीव अधिक शान्ति को प्राप्त होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मार्ग के द्वारा स्वालय अथवा मोक्ष-मन्दिर में निवास करता है और उसके बड़े से बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं तथा सब रोग दूर हो जाते हैं, वे भगवान् मेरे प्रधान सहायक बनें। (पद्य-116)

आचार्य समन्तभद्र द्वारा की गई स्तुति के इस संक्षिप्त सारांश को पढ़कर प्रत्येक सम्यग्दृष्टि पाठक के चित्त में अनन्तगुणसम्पन्न परमवीतराग भगवान् जिनेन्द्र के प्रति असीम श्रद्धा का संचार होना स्वाभाविक ही है। वह अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर समझ लेता है कि भगवान् जिनेन्द्र ही उसके परम हितैषी हैं, महानायक हैं। केवल जिनेन्द्र भगवान् ही मोक्षमार्ग के उपदेष्टा हैं, शरणागत भव्य पुरुषों के जन्म-मरण रूप रोग को नष्ट करने वाले हैं और उन्हें केवलज्ञानादि लक्ष्मी से विस्तृत करने में समर्थ हैं।

भगवान् की विशिष्ट-रूप से स्तुति करने वाला पुरुष अवश्य ही अनन्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण से रहित अविनाशी पद को प्राप्त हो जाता है। भगवान् के चरण-कमलों में नमस्कार करने वाला पुरुष उच्च और पुण्यवान् होता हुआ शोभित होता है। उसके कुत्सित-आचरणरूप पापों का नाश होता है। सम्यक् स्तोता के अनादिकाल से आत्मप्रदेशों में स्थित घोर राग-द्वेषादि पापकर्मों के समूह का नाश हो जाता है। अज्ञानरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है। आत्मा का अनुभव करता हुआ वह संसार से पीड़ा-रहित हो जाता है।

यही जानकर स्तोता भावना भाता है कि उसकी बुद्धि अतिशय रूप से भगवान् का ही स्मरण करे, ध्यान करे। उसका मस्तक भगवान् के चरणयुगल में ही नत रहे। उसकी वाणी निरन्तर भगवान् की ही स्तुति करे। उसकी श्रद्धा भगवान् के निर्दोष स्याद्वादात्मक मत में ही रहे। उसके दोनों हाथ भगवान् के लिये अंजुलि बाँधने के लिये ही प्रयुक्त हों। उसके कान भगवान् की कथा सुनने में ही रत रहें। उसकी आँखें भगवान् का रूप देखने में ही लीन रहें।

समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य को यह कहने में जरा भी संकोच नहीं है कि भगवान् की सुस्तुति करना उनका व्यसन है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि भगवान् की स्तुति से यह जीव अधिक शान्ति को प्राप्त होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मार्ग के द्वारा अपने बड़े से बड़े पापों को नष्ट करता हुआ स्वालय अथवा मोक्ष-मन्दिर में स्थित हो जाता है। यही स्तुतिविद्या है।

आचार्य वसुनन्दी की 'स्तुतिविद्या' पर संस्कृत टीका

आचार्य समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य ने अपनी आत्म-विशुद्धि और तपस्या के बल पर अवश्य ही ऐसी किन्हीं बुद्धि-ऋद्धियों की प्राप्ति की होगी जिनके बल पर उन्होंने ऐसे-ऐसे जटिल परन्तु सारगर्भित, पूर्वापर दोष से रहित गाथा-सूत्रों की रचना की कि जिनका शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ समझने के लिये इस युग के विद्वान् भी अपने आप को असमर्थ पाते हैं! इसीलिये इन महान् पूर्वाचार्यों के उपरान्त इस भूमि को पवित्र करने वाले अन्य बड़े-बड़े तपस्वी आचार्यों ने उनके द्वारा रचित ग्रन्थों पर विस्तृत

टीकायें लिखकर उन अद्‌भुत ग्रन्थों को हम जैसे अल्पज्ञों के बोधगम्य बनाया है। 'स्तुतिविद्या' तो आचार्य समन्तभद्र के अद्वितीय शब्दाधिपत्य तथा काव्य-कौशल को प्रदर्शित करता हुआ एक मुकुटमणि ग्रन्थ है जो सामान्य पाठक के लिये अत्यन्त दुर्बोध एवं दुर्ग्राह्य है।

'स्तुतिविद्या' के संस्कृत टीकाकार के नाम के विषय में कुछ संशय है। पं लालाराम (1912) द्वारा अनुवादित संस्करण में संस्कृत व्याख्याकार का नाम 'नरसिंहभट्ट' दिया हुआ है। कारण यह है कि टीकाकार ने अपने मंगलाचरण के चौथे पद्य में कहा है- "जब तक एक नरसिंह नाम का सूर्य उस भूतकाल में उदित नहीं हुआ था जो अपने लिए परोक्ष है, तब तक विद्वानों का यह मत था कि समन्तभद्राचार्य की 'स्तुतिविद्या' नाम की सुपद्मिनी का कोई प्रबोधक - उसके अर्थ को खोलने-खिलाने वाला - नहीं है।" इसके उपरान्त पाँचवें पद्य में टीकाकार कहते हैं- "महान् पुरुषों का ऐसा वचन सुना जाता है कि यह काव्य दुर्गम से दुर्गम है - अत्यन्त कठिन है। परन्तु नरसिंह को प्राप्त होकर यह काव्य सुगम से सुगम - सरस, सरलतर - हो गया है।" परन्तु यह लगभग असम्भव ही है कि कोई टीकाकार स्वयं के बारे में इस प्रकार के प्रशंसात्मक वाक्यों का प्रयोग करेगा। इसके अलावा मंगलाचरण के छठे पद्य में कहा है- "समन्तभद्राचार्य की 'स्तुतिविद्या' को समाश्रित करके किसकी बुद्धि नहीं चलती है - विकसित होती है? अर्थात् बुद्धि का विकास होता ही है। यही कारण है कि जड़मति होते हुए भी (आचार्य) वसुनन्दी 'स्तुतिविद्या' की वृत्ति (टीका) करते हैं।" इस सब से इतना अवश्य सम्भव है कि नरसिंह नाम के किन्हीं महान् कवि और मर्मज्ञ ने पहले कोई टीका लिखी हो जिसके आधार पर प्रस्तुत टीका आचार्य वसुनन्दी ने लिखी हो। ये वे ही आचार्य वसुनन्दी जान पड़ते हैं जो 'आप्तमीमांसा (देवागम) वृत्ति' के कर्त्ता हैं क्योंकि जैसे इस टीका में उन्होंने अपने लिए 'जड़मति' शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ भी उन्होंने अपने को 'वसुनन्दिना जडमतिना' जैसे शब्दों द्वारा सम्बोधित किया है। 'वसुनन्दि श्रावकाचार' में आचार्य वसुनन्दी का समय बारहवीं शती निर्धारित किया गया है।[1]

'स्तुतिविद्या' पर हिन्दी रचनायें एवं प्रस्तुत कृति

इस कृति के लेखन-कार्य में हमें 'स्तुतिविद्या' से सम्बन्धित तीन पूर्व-प्रकाशित हिन्दी में

1. देखें, (2006) **'वसुनन्दि श्रावकाचार'**, हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय, हीराबाग, मुंबई-4, प्रस्तावना, पृ. xliv.

अनुवादित ग्रन्थों से विशेष सहायता प्राप्त हुई है-

1) अनुवादक - प. पन्नालाल जैन, प्रस्तावना - जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' (1950) 'श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिता स्तुतिविद्या (जिनशतक)'- प. पन्नालाल जैन का अनुवाद सटीक है, तथा चित्रालंकारों की अच्छी चर्चा की गई है। परिशिष्ट में कई पद्यालंकारों के सुन्दर चित्र दिये गये हैं। इस ग्रन्थ का मुख्य आकर्षण मूर्धन्य विद्वान् जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' की विस्तृत प्रस्तावना है जो अत्यन्त रोचक एवं ज्ञानवर्धक है।

2) आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी (?), 'श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्य विरचित स्तुतिविद्या अपरनाम जिनशतक'- आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी के द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में उनका वैदुष्य और परिश्रम सर्वत्र झलकता है। माताजी ने इसमें मूल पद्य के साथ-साथ अन्वयार्थ, शब्दार्थ और भावार्थ दिया है। बहूत से पद्यों का सुन्दर चित्रण भी प्रस्तुत किया है।

3) अनुवादक - पं. लालाराम (1912) 'स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचित जिनशतक'- यह लगभग 108 वर्ष पूर्व प्रकाशित पं. लालाराम की अनुवादित कृति संभवत: 'स्तुतिविद्या' का पहला हिन्दी अनुवाद है। इस ग्रन्थ के प्रकाशक महोदय के अनुसार उन्होंने अपनी 'स्याद्वादग्रन्थमाला' का प्रादुर्भाव आचार्य समन्तभद्र कृत 'स्तुतिविद्या' को पवित्र मंगलमय समझकर इसे मंगलाचरण स्वरूप प्रथम प्रकाशित किया था। परिशिष्ट में कुछ पद्यालंकारों के चित्र दिये गये हैं जिनमें से अधिकतर उस समय की तकनीक के अनुसार हस्त-निर्मित हैं तथा ब्लॉक द्वारा मुद्रित किये गये हैं। अनुवादक तथा प्रकाशक की जिनवाणी के प्रति इस समर्पण-भावना की हम हृदय से सराहना और अनुमोदना करते हैं।

१२७
कविकाव्यनामगर्भचक्रबृत्तम्
गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना तं चेच्युतं स्वर्गतः
बन्धत्येति सुशर्म पूर्णमधिकां शान्तिं वृतिन्वाधना॥
यद्भक्त्या शमिताकृशाघमरुजं तिष्ठेन्ननः स्वालये।
ये सद्धी ग कदा यतीव यजते तेमे जिनाः सुश्रिये॥
॥११६॥

इसे कविकाव्य नाम गर्भ बिना ११०, ११३, ११४, ११५,

इन तीनों प्रकाशनों में आचार्य वसुनन्दी की संस्कृत टीका का समावेश है। इन ग्रन्थों के अलावा दो अन्य ग्रन्थ 'समन्तभद्र भारती' के नाम से प्रकाशित हुए हैं- 1) जैन विद्यापीठ, सागर, द्वारा आचार्य विद्यासागर महाराज के संयम स्वर्ण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित (2017) 'समन्तभद्र भारती'। इसमें 'स्तुतिविद्या' के मूल पद्य अन्वयार्थ सहित दिये गए हैं। 2) सम्पादन - डॉ. गोकुलचन्द्र जैन, आचार्य शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थमाला, बुढ़ाना,

मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) द्वारा प्रकाशित (2015) 'समन्तभद्र भारती'। इसमें 'स्तुतिविद्या' के केवल मूल पद्य दिये गए हैं।

प्रस्तुत कृति में 'स्तुतिविद्या' के मूल पद्य, अन्वयार्थ, अलंकार और उसका लक्षण तथा जहाँ आवश्यक हुआ भावार्थ भी दिया गया है। चित्रालंकारों का चित्रण मूल पद्य के साथ-साथ दिया गया है। कुल 97 चित्र हैं।

'स्वयम्भूस्तोत्र', 'युक्त्यनुशासन' और 'स्तुतिविद्या'

ये तीनों ग्रन्थ - 'स्वयम्भूस्तोत्र', 'युक्त्यनुशासन' और 'स्तुतिविद्या' - आचार्य समन्तभद्र के महान् स्तुतिग्रन्थ हैं।

'स्वयम्भूस्तोत्र' (143 पद्य) में आचार्य समन्तभद्र ने चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन करते हुए उनके गुणों का वर्णन तो किया ही है साथ ही भगवान् के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों जैसे अनेकान्तवाद और स्याद्वाद - जिनको ग्रहण किये बिना वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना असंभव है - को भी भरपूर स्थान दिया है। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति का यह एक प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें भक्ति-स्तुति के साथ दर्शनशास्त्र के गूढ़-गम्भीर सिद्धान्त भरे पड़े हैं।

'युक्त्यनुशासन' (64 पद्य) में आचार्य भगवन् ने चौबीसवें तीर्थंकर वीर जिनेन्द्र की स्तुति की है। इसमें आचार्य घोषणा करते हैं कि यह स्तोत्र वीर भगवान् के प्रति रागभाव से नहीं कहा गया है और न ही दूसरे देवों के प्रति द्वेषभाव से। इसका हेतु अथवा उद्देश्य तो यही है कि जो लोग न्याय-अन्याय को पहचानना चाहते हैं और प्रकृत पदार्थ के गुण-दोषों को जानने की जिनकी इच्छा है, उनके लिये यह स्तोत्र 'हितान्वेषण के उपायस्वरूप' वीर जिनेन्द्र की गुण-कथा के साथ कहा गया है।

आचार्य समन्तभद्र अपने इस तीसरे स्तुतिग्रन्थ 'स्तुतिविद्या' (116 पद्य) में हम जिनभक्तों को क्या उपदेश दे रहे हैं? इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य वे पहले ही पद्य में बतलाते हैं- 'आगसां जये' अर्थात् पापों - मोहादिक पापकर्मों और हिंसादिक दुष्कृतों - पर विजय प्राप्त करने के लिये। भगवान् की सम्यक् स्तुति स्तोता के बड़े से बड़े पापों का समूल नाश करती है और परम्परा से उसे मोक्ष-मन्दिर तक पहुँचाने का उत्तम साधन सिद्ध होती है। यह भी निश्चित है कि भगवान् जिनेन्द्र की सम्यक् स्तुति करने के परिणाम महापुण्यवान् विरले जीवों के ही होते हैं। हमारे ऐसे परिणाम होना यह दर्शाता है कि हम महाभाग्यशाली हैं।

आईये, हम सांसारिक ख्याति-पूजा-लाभादि-विभावभावों तथा पञ्चेन्द्रिय-विषय-व्यापार से शून्य होकर महान् आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित इस अनुपम स्तुतिग्रन्थ को आत्मसात्

करें और भगवान् जिनेन्द्र की परम-शरण में जाकर परमानन्द-स्वरूप शुद्धात्मसंवित्ति की अलौकिक अनुभूति करें।

आचार्य विशुद्धसागर - मां जिनवाणी के सतत सेविन्

गणपोषणकाल में आचार्य स्वयं निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग में ठहरकर तथा पाँच प्रकार की भावनाओं - तप, श्रुत, सत्त्व, एकत्व और संतोष - सहित होकर मोक्षमार्ग के अर्थी भव्य प्राणियों को परमात्म-तत्त्व का उपदेश देकर पुष्ट करते हैं। (देखें 'पञ्चास्तिकाय', आचार्य जयसेन 'तात्पर्यवृत्ति' टीका, गा. 173, पृ. 415-416)
आचार्य गुणभद्र ने ऐसे परम आचार्य के ये लक्षण बतलाये हैं-

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने
परिणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ॥६॥

- आचार्य गुणभद्र, **'आत्मानुशासन'**

अर्थ - जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धान्त का जानकार है; जिसका चारित्र अथवा मन, वचन व काय की प्रवृत्ति पवित्र है; जो दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण है; मोक्षमार्ग के प्रचार-रूप समीचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील है; जिसकी अन्य विद्वान् स्तुति करते हैं तथा जो स्वयं भी विशिष्ट विद्वानों की प्रशंसा एवं उन्हें नमस्कार आदि करता है; जो अभिमान से रहित है; लोक और लोकमर्यादा का जानकार है; सरल-परिणामी है; इस लोकसम्बन्धी इच्छाओं से रहित है; तथा जिसमें और भी आचार्य-पद के योग्य गुण विद्यमान हैं; वही हेयोपादेय-विवेकज्ञान के अभिलाषी शिष्यों का गुरु हो सकता है।

आचार्य गुणभद्र ने इस गाथासूत्र में आचार्य-पद के लिये जो गुण विस्तृत किये हैं उनका इस वर्तमान समय के आचार्यों में विद्यमान होना दुर्लभ हो सकता है परन्तु असम्भव नहीं है। आचार्य विशुद्धसागर (जन्म 18 दिसम्बर 1971) एक ऐसे ही गुण-सम्पन्न आचार्य हैं। वे मुनिराज सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी आभूषणों से सहित हैं, दिशाएँ ही

उनके अम्बर-वस्त्र हैं, मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण ही उनके आभरण हैं, और कर्मरूपी शत्रुओं को हराकर मुक्ति-वधू को वरने के लिये ही उन्होंने यह जिनेन्द्र-प्रतिपादित कठिन दीक्षा धारण की है। वे हर्ष-विषाद से रहित हैं, शान्त इन्द्रियों और प्रशान्त मुद्रा के धारक हैं, सिंह के समान निर्भय हैं, तप और ध्यान उनको अति प्रिय हैं। वे शत्रु और मित्र तथा रत्नों की राशि और तृण में समान बुद्धि रखते हैं। कुशल परिणामों में मन को स्थिर रखते हुए वे आत्मकल्याण में लीन रहते हैं। मां जिनवाणी की जीवन पर्यन्त सेवा करने का उन्होंने दृढ़ निश्चय कर रखा है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, महाव्रत, समिति तथा गुप्तियों से युक्त आचार्य विशुद्धसागर अपनी आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करते हुए छह प्रकार के बाह्य और छह ही प्रकार के आभ्यन्तर तपों की निरन्तर आराधना करते हैं। इस कलिकाल में स्वाध्याय को वे परम तप मानते हैं। उनके अनुसार पाँच प्रकार का स्वाध्याय - वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और उपदेश - प्रशस्त अभिप्राय के लिये, प्रज्ञा अर्थात् भेद-विज्ञान के अतिशय की प्राप्ति के लिये, संवेग के लिये और तप की वृद्धि के लिये किया जाता है।

आचार्य विशुद्धसागर मुनिधर्म के सम्यक् निर्वहन के लिए आगम को कर्णधार मानते हैं, मुनि का चक्षु मानते हैं। आगम ही धर्मध्यान का आश्रय है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं और जिस ध्यान में वस्तु के स्वभाव का चिन्तवन किया जाता है उसे धर्मध्यान कहते हैं। आगम की परम्परा को जानने वाले ऋषियों ने उस धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और विपाकविचय इस प्रकार चार भेद माने हैं। संसार में कितने ही ऐसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ हैं जो छद्मस्थों के द्वारा न तो प्रत्यक्ष से और न अनुमान से जाने जा सकते हैं। ऐसे पदार्थों का ज्ञान केवल आगम के द्वारा ही होता है अर्थात् आप्त प्रणीत आगम के अनुसार ही उन पर श्रद्धान किया जाता है। नयों के सैकड़ों भंगों से भरा हुआ जो कुछ आगम का विस्तार है वह सब अन्तरात्मा की विशुद्धि के लिये ध्यान करने योग्य है। आगम ही मोक्षरूप पुरुषार्थ का उपदेशक होने के कारण संसार के समस्त जीवों का हित करने वाला है, युक्तियों से प्रबल है, किसी के द्वारा जीता नहीं जा सकता है, अपरिमित है, अत्यन्त प्रभावशाली है, जीव-अजीव आदि पदार्थों का सम्यक् निरूपण करता है, अतिशय गम्भीर है, उत्कृष्ट है, सूक्ष्म है और आप्त के द्वारा कहा हुआ है।

आचार्य विशुद्धसागर का उपदेश है कि वस्तु के वस्तुत्व का भूतार्थ बोध प्रमाण एवं नय के माध्यम से ही होता है; प्रमाण एवं नय के अधिगम बिना वस्तु के वस्तुत्व का सत्यार्थ ज्ञान होना असंभव है, इसीलिए ज्ञानीजनों को सर्वप्रथम प्रमाण व नय का गम्भीर अधिगम करना

चाहिये। नय-प्रमाण के समीचीन ज्ञान को प्राप्त होते ही साधु-पुरुष माध्यस्थ हो जाते हैं। नय-प्रमाण के भूतार्थ निर्णय को प्राप्त करके ही जीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

जिस धर्म के आचरण से इस लोक और परलोक दोनों में जीव का हित होता है उस धर्म का व्याख्यान करने वाले प्रवक्ता का वचन-व्यवहार सम्यक् नय-विवक्षा को लिये हुए होना चाहिये। नय-निरपेक्ष वचन-व्यवहार न तो स्वयं का कुछ भला कर सकता है और न सुनने वालों का।

आगम में कहा है कि प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा पदार्थ की सम्यक् आलोचना करना ही उचित है, उसके बिना यथार्थ वस्तु की प्रतीति नहीं होती। इन तीनों को ग्रन्थकार (देखें 'णयचक्को', गा. 167, पृ. 95) ने तर्क या युक्ति कहा है। आचार्य अकलंकदेव ने भी 'लघीयस्त्रय' में प्रमाण, नय और निक्षेप का कथन करने की प्रतिज्ञा करते हुए कहा है- 'ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, उपाय को निक्षेप कहते हैं और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।' दूसरे शब्दों में वस्तु प्रमाण का विषय है और वस्तु का एक अंश नय का विषय है। और जो अर्थ प्रमाण और नय से निर्णीत होता है वह निक्षेप का विषय है; प्रमाण और नय के निक्षेपण या आरोपण को निक्षेप कहते हैं। इस प्रकार युक्ति से अर्थात् प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा पदार्थ का निर्णय करना चाहिये। अनेक स्वभावों से परिपूर्ण वस्तु को प्रमाण के द्वारा ग्रहण करके तत्पश्चात् एकान्तवाद का नाश करने के लिए नयों की योजना करनी चाहिये। सम्यक् एकान्तों के समूह का नाम ही अनेकान्त है। एकान्तों की निरपेक्षता विसंवाद की जड़ है; एकान्तों की सापेक्षता संवाद की जड़ है। नय में मुख्य रूप से 'तत्' या 'अतत्' किसी एक धर्म की ही प्रतिपत्ति होती है, अविवक्षित धर्म विद्यमान रहता है। दुर्नय प्रतिपक्षी अन्य धर्मों का निराकरण करके केवल एक धर्म की ही प्रतिपत्ति करता है।

वस्तु के सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। संशय, विमोह और विभ्रम से युक्त जो ज्ञान होता है उसे अज्ञान कहते हैं। अथवा कुशास्त्रों के अध्ययन-चिन्तन से जो पापदायक ज्ञान होता है वह भी अज्ञान है। (देखें 'णयचक्को', गा. 306, पृ. 151-152)

'यह स्थाणु (ठूँठ) है या पुरुष है?' इस प्रकार की चलित प्रतीति को संशय कहते हैं। इसी प्रकार वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया तत्त्वज्ञान सत्य है या दूसरों के द्वारा कहा गया सत्य है, यह संशय है। मार्ग में चलते हुए पुरुष के पैर में तृण आदि का स्पर्श होने पर 'कुछ होगा', यह विमोह या अनध्यवसाय है। इसी प्रकार परस्पर सापेक्ष नयों के द्वारा द्रव्य, गुण, पर्याय आदि का ज्ञान न होना विमोह है। सीप को चाँदी या रस्सी को साँप समझना विभ्रम

या विपर्यय है। इसी प्रकार अनेकान्तात्मक वस्तु को एकान्त रूप से ग्रहण करना विभ्रम है। इन संशय, विमोह और विभ्रम से युक्त ज्ञान ज्ञान नहीं है, वस्तुतः अज्ञान ही है।

दुर्नय एकान्त को लिये हुए भाव सम्यगर्थ वाले नहीं होते हैं। जो नय एकान्त से रहित भाव वाले हैं वे समीचीन अर्थ को बतलाने वाले हैं। संकरादि दोषों से दूषित होने के कारण सर्वथा एकान्त के मानने पर सद्रूप पदार्थ की नियत अर्थव्यवस्था नहीं हो सकती है। (देखें 'आलापपद्धति', गा. 8, सूत्र 127, पृ. 116)

श्रेष्ठ वक्ता के वचन इन आठ प्रकार के दोषों से रहित होते हैं-

1) संकर - सर्व वस्तुओं का परस्पर मिलकर एक वस्तु हो जाना। जैसे- 'शरीर और आत्मा एक हैं।'
2) व्यतिकर - जिस वस्तु की किसी भी प्रकार से स्थिति न बन सके। जैसे- 'चक्षु से सुना।'
3) विरोध - जड़ का चेतन हो जाना और चेतन का जड़ होना। जैसे- 'पुद्गल में भी चेतनत्व है।'
4) वैयधिकरण - परस्पर विरुद्ध अर्थात् विषम पर्यायों का एक ही समय में एक ही आधार मानना। जैसे- 'तालाब का यह जल शीतल और उष्ण है।'
5) अनवस्था - एक से दूसरे की, दूसरे से तीसरे की और तीसरे से चौथे की उत्पत्ति - इस प्रकार कहीं ठहराव नहीं होना। जैसे- 'प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है, संसार का कर्ता ईश्वर है।' फिर ईश्वर का भी कोई कर्ता होना चाहिये। और फिर उसके कर्ता का कर्ता...
6) संशय - वर्तमान में निश्चय न कर सकना। जैसे- 'यह सीप है या चाँदी?'
7) अप्रतिपत्ति - वस्तुस्वरूप की अज्ञानता। जैसे- 'आकाश द्रव्य जीव और पुद्गल की गति में सहायक होता है।'
8) अभाव - जिस वस्तु का सर्वथा अभाव हो उसको कहना। जैसे- 'गधे के सींग।'

जो गुण और गुणी (द्रव्य) में सर्वथा भेद मानते हैं, सर्वथा अभेद मानते हैं तथा जो भेद और अभेद को परस्पर सापेक्ष नहीं मानते हैं उनके मत में उपर्युक्त आठों दोष सम्भव हैं। भेद और अभेद को सापेक्ष मानने वाले स्याद्वादियों के मत में ये दोष सम्भव नहीं हैं क्योंकि वे वस्तुस्वरूप को अनेकान्तात्मक मानते हैं। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जो अनन्तधर्मात्मक वस्तु का सम्यक् प्रतिपादन

करती है। 'स्यात्' शब्द कथंचित् (किसी अपेक्षा से) सुनिश्चित अर्थ के रूप में प्रयुक्त होता है; संशय, संभावना या कदाचित् के अर्थ में नहीं।

जब वक्ता विवेचनीय वस्तु (उद्देश्य) को अन्य (मिली हुई अनेक वस्तुओं) में से व्यावृत्त (अलग) करने के लिये उसके लक्षण (हेतु अथवा चिह्न) का कथन करता है उस समय वह मिथ्या अर्थात् सदोष लक्षण - जिसको लक्षणाभास कहते हैं - का उपयोग नहीं करता है। (देखें 'न्यायदीपिका', पृ. 12)

लक्षणाभास के तीन भेद हैं-

1) अव्याप्त - लक्ष्य के एक-देश में लक्षण के रहने को। जैसे गाय का शावलेयत्व। शावलेयत्व सब गायों में नहीं पाया जाता, यह कुछ गायों का ही धर्म है, इसलिए अव्याप्त है।
2) अतिव्याप्त - लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को। जैसे गाय का ही पशुत्व (पशुपना) लक्षण करना। यह 'पशुत्व' गायों के अतिरिक्त अश्वादि में भी पाया जाता है, इसलिए अतिव्याप्त है।
3) असम्भवि - जिसकी लक्ष्य में वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्य में सर्वथा न रहे। जैसे मनुष्य का लक्षण सींग करना।

ज्ञानी वक्ता मानता है कि चार प्रकार के अभावों - प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव - का निराकरण करना दोषपूर्ण है, मिथ्या मान्यताओं का पोषक है। प्रागभाव का निराकरण करने पर घट आदि कार्यद्रव्य अनादि हो जाएगा। प्रध्वंसाभाव का निराकरण करने पर कार्यद्रव्य अनन्तता को प्राप्त हो जाएगा। अन्योन्याभाव (अन्यापोह अथवा इतरेतराभाव) का निराकरण करने पर किसी का जो इष्ट तत्त्व है वह सब रूप हो जाएगा। अत्यन्ताभाव का निराकरण करने पर किसी भी इष्ट तत्त्व का किसी भी प्रकार से व्यपदेश (कथन) नहीं हो सकेगा। अर्थात् यह चेतन है और यह अचेतन है, ऐसा कथन भी नहीं हो सकेगा। (देखें 'आप्तमीमांसा', श्लोक 9-11, पृ. 19-24)

आचार्य विशुद्धसागर के यथार्थवादित्व गुण की परीक्षा या समीक्षा करना मेरी बुद्धि के बाहर है। कहाँ आचार्य भगवन् का अतुल ज्ञान और वर्धमान चारित्र और कहाँ अनेक प्रकार के आवरणों से ढका हुआ मेरा ज्ञान और चारित्र जिनको प्रशस्त करने के लिए मैंने अभी तक आगम में वर्णित उत्तम मोक्ष-मार्ग, जो मुनिधर्म से संस्कारित है, पर पहला कदम भी नहीं रखा है! फिर भी भक्ति और श्रद्धा के वश मैं आचार्य भगवन् के इस यथार्थवादित्व

गुण का कुछ विस्तार करने के लिये उद्यत हुआ हूँ। मेरी इस धृष्टता का एक कारण यह भी है कि जो लोग आप्त-प्रणीत आगम और मिथ्याशास्त्रों के अन्तर को अपनी अविचारित भक्ति अथवा विवेकहीन बुद्धि के कारण जानने में असमर्थ हैं वे भी कुछ देर के लिये अपने नेत्र बन्द करके युक्तियुक्त न्यायमार्ग को प्रतिपादित करने वाली आचार्य भगवन् की वाणी को सुनें। ज्ञानी तथा वीतरागी गुरु के मुख से निकली हुई सम्यक् देशना मोक्षाभिलाषी जीवों का जिनागम में गर्भित सर्व-उपकारी और दुर्लभ यथार्थ ज्ञान से साक्षात्कार कराती है। उत्तम पात्र उस ज्ञान का अधिग्रहण करता है, मनन करता है, फिर निर्णय और श्रद्धान करता है। जिनागम में वर्णित व्यवहार-निश्चय के अविरोधरूप मोक्षमार्ग के स्वरूप को जानकर वह सम्यक्त्व को और तदुपरान्त चारित्र को भी प्राप्त होता है।

हे श्रुत-उपासक आचार्य विशुद्धसागर! हे सर्वज्ञ-तीर्थंकर की दिव्यध्वनि में खिरने वाले आत्मस्वरूप को जानने-समझने से उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त आचार्यवर्य! हे मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को नष्ट करने हेतु सूर्य की किरणों के समूह के समान समीचीन मार्ग के प्रकाशक! हे हितरूप, मधुर और निर्मल वचनों द्वारा जीवों का उपकार करने वाले योगीश्वर! हे श्रेष्ठ और मोक्षाभिलाषी ऐसे दिगम्बर मुनिराजों - जो सदैव मस्तक झुकाकर आपको नमस्कार करते हुए मोक्ष के उपायभूत व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय की उपासना करते हैं - के अधिपति! हे परीक्षाप्रधानी आचार्य समन्तभद्र स्वामी के कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व गुणों की प्रतिमूर्ति! मैं सम्यग्दर्शन रूपी अमृत की प्राप्ति के लिये आपके पावन चरण-मूल का आश्रय लेता हूँ, आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ।

अक्टूबर, 2020
देहरादून, भारत

विजय कुमार जैन

प्रस्तावना के संदर्भ ग्रन्थ

1. अनुवादक - पं. पन्नालाल जैन 'वसन्त', प्रस्तावना - पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' (1950), **स्तुतिविद्या (जिनशतक),** वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर.
2. सम्पादन - आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी (?), **श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्य विरचित स्तुतिविद्या अपरनाम जिनशतक**
3. भाषानुवाद - पं. लालारामजी (1912), **स्वामि समन्तभद्राचार्य विरचित जिनशतक,** स्याद्वाद ग्रंथमाला-1, प्रकाशक - पन्नालाल बाकलीवाल, काशी.

4. डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य (2015), **आचार्य जिनसेन विरचित आदिपुराण,** भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, सोलहवाँ संस्करण.

5. जुगलकिशोर मुख्तार (श्री वीर-निर्वाण संवत् 2451 तदनुसार ई.स. 1925) **'श्रीमन्समन्तभद्रस्वामिविरचितो रत्नकरण्डकश्रावकाचारः'**, मणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला समिति.

6. टीका - आर्यिका श्री विशुद्धमति माताजी, सम्पादन - डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी (2008), **श्रीयतिवृषभाचार्य विरचित तिलोयपण्णत्ती,** श्री 1008 चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, देहरा-तिजारा (राजस्थान), तृतीय संस्करण.

7. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन (1982), **भट्टाकलंकदेवविरचितम् तत्त्वार्थवार्तिकम् (राजवार्तिकम्)**, भारतीय ज्ञानपीठ, बी/45-47, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-110001.

8. विजय कुमार जैन (2020), **'आचार्य समन्तभद्र विरचित युक्त्यनुशासन - अन्वयार्थ एवं व्याख्या सहित',** विकल्प प्रिन्टर्स, देहरादून.

9. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री (1992), **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'**, आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला, बुढ़ाना, मुजफ्फरनगर, चतुर्थ खण्ड, द्वितीय संस्करण.

10. व्याख्याकार - मुनि सुनीलसागर, सम्पादक - प्रो. भागचन्द्र जैन (2006) **'वसुनन्दि श्रावकाचार'**, हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय, हीराबाग, मुंबई-4.

11. सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री (2013), **माइल्लधवल-विरचित णयचक्को (नयचक्र),** भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, पाँचवाँ संस्करण.

12. हिन्दी अनुवादक - श्रीलाल जैन न्यायतीर्थ (1989-90), **आचार्य कुन्दकुन्द विरचित पञ्चास्तिकाय - श्री अमृतचन्द्र सूरिकृत 'समयव्याख्या' टीका, श्री जयसेनाचार्य विरचित 'तात्पर्यवृत्ति' टीका,** भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद्.

13. अनुवादक - पं. रतनचन्द्र जैन, मुख्तार (2017), **श्रीदेवसेनाचार्यविरचिता आलापपद्धति**, जैन विद्यापीठ, सागर (म.प्र.).

14. संपादक तथा अनुवादक - पं. डॉ. दरबारीलाल कोठिया (2017), **श्रीमदभिनव-धर्मभूषणयतिविरचिता न्यायदीपिका,** जैन विद्यापीठ, सागर (म.प्र.).

15. Jain, Vijay K. (2020), *"Ācārya Kundakunda's Pañcāstikāya-saṃgraha — The Jaina Metaphysics"*, Vikalp Printers, Dehradun.

16. Jain, Vijay K. (2018), "*Ācārya Umāsvamī's Tattvārthasūtra – With Explanation in English from Ācārya Pūjyapāda's Sarvārtha-siddhi*", Vikalp Printers, Dehradun.
17. Jain, Vijay K. (2018), "*Ācārya Kundakunda's Pravacanasāra – Essence of the Doctrine",* Vikalp Printers, Dehradun.
18. Jain, Vijay K. (2019), "*Ācārya Kundakunda's Niyamasāra – The Essence of the Soul-adoration",* Vikalp Printers, Dehradun.
19. Jain, Vijay K. *(Ed.)* (2013), "*Ācārya Nemicandra's Dravyasaṃgraha – With Authentic Explanatory Notes",* Vikalp Printers, Dehradun.
20. Jain, Vijay K. (2016), "*Ācārya Samantabhadra's Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra – The Jewel-casket of Householder's Conduct",* Vikalp Printers, Dehradun.
21. Jain, Vijay K. (2017), "*Ācārya Pūjyapāda's Samādhitaṅtram – Supreme Meditation",* Vikalp Printers, Dehradun.
22. Jain, Vijay K. (2015), "*Ācārya Samantabhadra's Svayambhūstotra – Adoration of The Twenty-four Tīrthaṅkara",* Vikalp Printers, Dehradun.
23. Jain, Vijay K. (2019), "*Ācārya Guṇabhadra's Ātmānuśāsana – Precept on the Soul",* Vikalp Printers, Dehradun.
24. Jain, Vijay K. (2016), "*Ācārya Samantabhadra's Āptamīmāṃsā (Devāgamastotra) – Deep Reflection On The Omniscient Lord",* Vikalp Printers, Dehradun.

* * *

विजय कुमार जैन - संक्षिप्त परिचय

श्री विजय कुमार जैन (जन्म 1951) की विद्यालयी शिक्षा मध्यप्रदेश के महू व भोपाल शहरों में सम्पन्न हुई। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (BHU, Varanasi) से इलेक्ट्रोनिक्स इंजीनियरिंग में स्नातक उपाधि प्राप्त की। तदुपरान्त प्रबंधन में स्नातकोत्तर शिक्षा भारतीय प्रबंध संस्थान, अहमदाबाद (IIM, Ahmedabad) से प्राप्त की। ई. सन् 1981 में आपने 'विकल्प प्रिन्टर्स' नामक संस्थान की स्थापना की।

प्रारम्भ में आपने विभिन्न विषयों पर कुछ मौलिक पुस्तकें लिखीं। लगभग दस वर्ष पूर्व महान् ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' का गहन स्वाध्याय करने के उपरान्त आपने परम पूज्य आचार्य विद्यानन्द मुनिराज (22 अप्रैल 1925 - 22 सितम्बर 2019) के मंगल आशीर्वाद व प्रेरणा से आत्महित के साथ-साथ पूर्वाचार्यों द्वारा वन्दित और प्रतिष्ठित मां जिनवाणी में प्रतिपादित गूढ़ विषयों को आधुनिक युग के भव्य जीवों के हितान्वेषण के उपायस्वरूप अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने का उद्यम प्रारम्भ किया।

आपकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं-

1. *Marketing Management for Small Units* (1988)
2. **जैन धर्म : मंगल परिचय** (1994)
3. *From IIM-Ahmedabad to Happiness* (2006)
4. *Ācārya Umāsvāmi's* ***Tattvārthsūtra*** *– With Hindi and English Translation* (2011)
5. *Ācārya Kundkund's* ***Samayasāra*** *– With Hindi and English Translation* (2012)
6. *Shri Amritachandra Suri's* ***Puruṣārthasiddhyupāya*** *– With Hindi and English Translation* (2012)
7. *Ācārya Nemichandra's* ***Dravyasaṃgraha*** *– With Authentic Explanatory Notes* (2013)
8. *Ācārya Pūjyapāda's* ***Iṣṭopadeśa*** *– The Golden Discourse* (2014)
9. *Ācārya Samantabhadra's* ***Svayambhūstotra*** *– Adoration of the Twenty-four Tīrthaṅkara* (2015)
10. *Ācārya Samantabhadra's* ***Āptamīmāṃsā (Devāgamastotra)*** *– Deep Reflection On The Omniscient Lord* (2016)

11. *Ācārya Samantabhadra's* ***Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra*** *– The Jewel-casket of Householder's Conduct* (2016)
12. *Ācārya Pūjyapāda's* ***Samādhitaṁtram*** *– Supreme Meditation* (2017)
13. *Ācārya Kundakunda's* ***Pravacanasāra*** *– Essence of the Doctrine* (2018)
14. *Ācārya Umāsvāmī's* ***Tattvārthasūtra*** *– With Explanation in English from Ācārya Pūjyapāda's* ***Sarvārthasiddhi*** (2018)
15. *Ācārya Kundakunda's* ***Niyamasāra*** *– The Essence of Soul-adoration (With Authentic Explanatory Notes)* (2019)
16. *Ācārya Guṇabhadra's* ***Ātmānuśāsana*** *– Precept on the Soul* (2019)
17. *Ācārya Kundakunda's* ***Paṁcāstikāya-saṃgraha*** *– With Authentic Explanatory Notes in English* (2020)
18. **आचार्य समन्तभद्र विरचित युक्त्यनुशासन - अन्वयार्थ एवं व्याख्या सहित** (2020)

अन्त के दो ग्रन्थ – 'आचार्य कुन्दकुन्द पञ्चास्तिकाय-संग्रह' (क्रमांक 17) और 'आचार्य समन्तभद्र विरचित युक्त्यनुशासन' (क्रमांक 18) - की पूर्णता में परम पूज्य दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज की दिव्याशीष मंगल-निमित्त-कारण हुई।

'आचार्य समन्तभद्र विरचित युक्त्यनुशासन' के अलावा प्रस्तुत कृति 'आचार्य समन्तभद्र विरचित स्तुतिविद्या' का भी अंग्रेजी भाषा में अनुवाद नहीं किया गया है।

* * *

विषयानुक्रमणिका

दिव्याशीष - दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज	-----	(V)
प्रस्तावना - विजय कुमार जैन	-----	(VIII)
विजय कुमार जैन - संक्षिप्त परिचय	-----	(XLVII)

स्तुतिविद्या (जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)

			पृष्ठ
संस्कृत टीकाकार आचार्य वसुनन्दी का मंगलाचरण		---	3
१.	श्री ऋषभनाथ जिन	---	5
२.	श्री अजितनाथ जिन	---	29
३.	श्री शंभवनाथ (संभवनाथ) जिन	---	33
४.	श्री अभिनन्दननाथ जिन	---	37
५.	श्री सुमतिनाथ जिन	---	43
६.	श्री पद्मप्रभ जिन	---	47
७.	श्री सुपार्श्वनाथ जिन	---	51
८.	श्री चन्द्रप्रभ जिन	---	53
९.	श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ) जिन	---	65
१०.	श्री शीतलनाथ जिन	---	71
११.	श्री श्रेयांसनाथ जिन	---	77
१२.	श्री वासुपूज्य जिन	---	85

१३.	श्री विमलनाथ जिन	---	91
१४.	श्री अनन्तनाथ जिन	---	97
१५.	श्री धर्मनाथ जिन	---	101
१६.	श्री शान्तिनाथ जिन	---	119
१७.	श्री कुन्थुनाथ जिन	---	143
१८.	श्री अरनाथ जिन	---	151
१९.	श्री मल्लिनाथ जिन	---	161
२०.	श्री मुनिसुव्रतनाथ जिन	---	163
२१.	श्री नमिनाथ जिन	---	167
२२.	श्री नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) जिन	---	173
२३.	श्री पार्श्वनाथ जिन	---	177
२४.	श्री वीर जिन	---	181
उपसंहार		---	198

सहायक ग्रन्थ सूची	-----	207
स्तुतिविद्या के पद्यों का वर्णाऽनुक्रम	-----	208

* * *

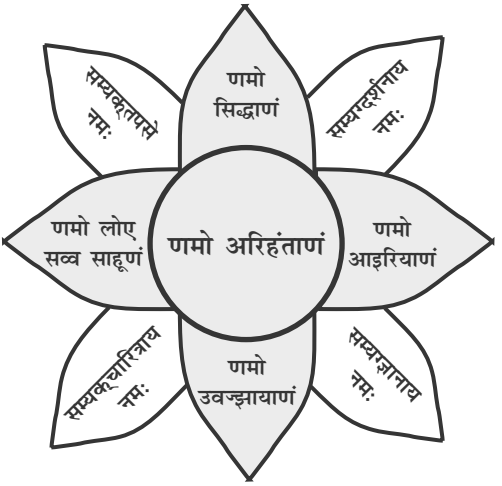

स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यं ॥

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः ॥

आचार्य समन्तभद्र विरचित

स्तुतिविद्या

(जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता
मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता
मयापि भक्त्या परिणूयतेऽद्य[1] ॥ (७-५-३५)

(हे सुपार्श्वनाथ भगवन्!) आप सर्व हेय (त्यागने योग्य) व उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्त्वों के प्रमाता (संशयादि दोष से रहित ज्ञाता) हैं व जैसे माता बालक को हितकारी शिक्षा देती है उसी प्रकार आप अज्ञानी जीवों को, जो हेयोपादेय के विवेक से रहित हैं, हितकारी तत्त्व की शिक्षा देते हैं। आप ही सम्यग्दर्शनादि गुणों के खोजी भव्यजीवों को यथार्थ मार्ग दिखाने वाले नेता (सन्मार्गदर्शक) हैं। इसलिए मैं भी आज भक्तिपूर्वक (मन, वचन और काय से) आपकी स्तुति में प्रवृत्त हुआ हूँ।

---

1. पाठान्तर - **परिणूयसेऽद्य**

* श्री समन्तभद्राय नमः *

आचार्य समन्तभद्र विरचित

स्तुतिविद्या (जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)

ॐ संस्कृत टीकाकार आचार्य वसुनन्दी का मंगलाचरण ॐ

नमो वृषभनाथाय लोकाऽलोकाऽवलोकिने ।
मोहपङ्कविशोषाय भासिने जिनभानवे ॥१॥

अर्थ - मैं जिनरूपी सूर्य, लोकाकाश और अलोकाकाश के ज्ञाता, देदीप्यमान, श्री वृषभनाथ भगवान् को अपने मोहरूपी कीचड़ का नाश करने के लिये नमस्कार करता हूँ।

समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वर-गुणालयम् ।
निर्म्मलं यद्यशस्कान्तं बभूव भुवनत्रयम् ॥२॥

अर्थ - श्रेष्ठ गुणों के स्थान! महाज्ञान के धारी! समन्तभद्र मुनिराज की मैं स्तुति करता हूँ, जिनके निर्मल यश का तेज तीन लोक में व्याप्त हुआ था।

यस्य च सद्गुणाधारा कृतिरेषा सुपद्मिनी ।
जिनशतकनामेति योगिनामपि दुष्करा ॥३॥

अर्थ - यह समन्तभद्राचार्य की रचना योगियों को भी दुष्कर है, सद्गुणों की आधारभूत है और इसका अपरनाम 'जिनशतक' है।

तस्याः प्रबोधकः कश्चिन्नास्तीति विदुषां मतिः ।
यावत्तावद्बभूवैको नरसिंहो विभाकरः ॥४॥

अर्थ – जब तक एक नरसिंह नाम का सूर्य उस भूतकाल में उदित नहीं हुआ था जो अपने लिए परोक्ष है, तब तक विद्वानों का यह मत था कि समन्तभद्राचार्य की 'स्तुतिविद्या' नाम की सुपद्मिनी का कोई प्रबोधक – उसके अर्थ को खोलने-खिलाने वाला – नहीं है।

दुर्गमं दुर्गमं काव्यं श्रूयते महतां वचः ।
नरसिंहं पुनः प्राप्तं सुगमं सुगमं भवेत् ॥५॥

अर्थ – महान् पुरुषों का ऐसा वचन सुना जाता है कि यह काव्य दुर्गम से दुर्गम है – अत्यन्त कठिन है। परन्तु नरसिंह को प्राप्त होकर यह काव्य सुगम से सुगम – सरस, सरलतर – हो गया है।

स्तुतिविद्यां समाश्रित्य कस्य न क्रमते मतिः ।
तद्वृत्तिं येन जाड्ये तु कुरुते वसुनन्द्यपि ॥६॥

अर्थ – समन्तभद्राचार्य की 'स्तुतिविद्या' को समाश्रित करके किसकी बुद्धि नहीं चलती है – विकसित होती है? अर्थात् बुद्धि का विकास होता ही है। यही कारण है कि जड़मति होते हुए भी (आचार्य) वसुनन्दी 'स्तुतिविद्या' की वृत्ति (टीका) करते हैं।

आश्रयाज्जायते लोके निःप्रभोऽपि महाद्युतिः ।
गिरिराजं श्रितःकाको धत्ते हि कनकच्छविम् ॥७॥

अर्थ – इस लोक में (उत्तम) आश्रय से निष्प्रभ मानव भी महाकान्तिवान् हो जाता है; क्योंकि गिरिराज सुमेरुपर्वत का आश्रय लेने वाला काक (कौआ) सुवर्ण की कान्ति को धारण करता है।

श्री ऋषभनाथ जिन

चिह्न – बैल

प्रथम गणधर* – श्री ऋषभसेन स्वामी

* सभी तीर्थंकरों के प्रथम गणधर के नाम **'तिलोयपण्णत्ती-२'**, गा. 973-975, पृ. 293 से लिये गये हैं।

श्रीमत्स्वामी-समन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीत

स्तुतिविद्या (जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)

ॐ श्री ऋषभ-जिन-स्तुतिः ॐ

(मुरजबन्धः)

श्रीमज्जिनपदाऽभ्याशं प्रतिपद्याऽऽगसां जये ।
कामस्थानप्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये ॥१॥

अन्वयार्थ - [**कामस्थान प्रदानेशं**] कामस्थान - इष्टस्थान (मोक्ष अथवा इन्द्रिय विषयों से निवृत्तिरूप स्वात्मस्थिति) - को प्रदान करने में समर्थ [**श्रीमज्जिनपद अभ्याशं**] श्रीमान् (केवलज्ञान आदि अन्तरंग और समवसरणादि बहिरंग लक्ष्मी से सम्पन्न) जिनेन्द्रदेव के पद-सामीप्य को [**प्रतिपद्य**] प्राप्त करके (उनके चरण-शरण में जाकर अथवा उन्हें अपने हृदयमन्दिर में विराजमान करके), [**आगसां जये**] स्वकीय पापों - मोहादिक पापकर्मों और हिंसादिक दुष्कृतों - पर विजय प्राप्त करने के लिये, मैं इस [**स्तुतिविद्यां**] स्तुतिविद्या नामक जिनस्तोत्र की [**प्रसाधये**] प्रसाधना (रचना) करना चाहता हूँ - सब प्रकार से सिद्ध करने के लिये उद्यत हुआ हूँ।

अन्तरंग और बहिरंग 'श्री' (लक्ष्मी) जिसके होती है वह श्रीमान् कहलाता है। जो कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है वह 'जिन' कहलाता है। श्रीमान् जिनराज के चरणों का सान्निध्य श्रीमज्जिनपदाऽभ्याश कहलाता है।

'काम' शब्द के इष्ट, कमनीय, इच्छा आदि अनेक अर्थ होते हैं। जिनराज का चरण-सान्निध्य इष्ट-स्थान अर्थात् मोक्षस्थान, कमनीयस्थान, पञ्चेन्द्रियजन्य सांसारिक सुख तथा स्वात्मोपलब्धि रूप आत्मीय सुख को देने में समर्थ है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि मैं जिनराज का चरण-सान्निध्य प्राप्त करके ही इस 'स्तुतिविद्या' की रचना के लिये उद्यत हुआ हूँ।

काम-स्थान को देने में इष्ट, यह 'स्तुतिविद्या' का भी विशेषण है, अर्थात् 'स्तुतिविद्या' भी

मोक्ष एवं सांसारिक सुखों को देने में समर्थ है। जो वीतराग प्रभु की स्तुति करता है वह स्वर्गादि अभ्युदय और निःश्रेयस् (मोक्ष) सुख को प्राप्त करता है।

स्तुतिविद्या का काव्यकौशल - 'मुरजबन्ध' नामक चित्रालंकार

दोषरहित, गुणसहित सालंकार कृति को काव्य कहते हैं। स्तुतिविद्या एक शब्दालंकार प्रधान काव्यग्रन्थ है जिसमें आचार्य समन्तभद्र ने यमक तथा चित्रालंकार के विविध रूपों का अद्भुत समावेश किया है।

'मुरजबन्ध' नामक चित्रालंकार का लक्षण इस प्रकार है[1]-

पूर्वार्धमूर्ध्वं पङ्क्तौ तु लिखित्वाऽर्द्धं परं त्वतः ।
एकान्तरितमूर्ध्वाधो मुरजं निगदेत् कविः ॥

ऊपर की पंक्ति में पूर्वार्ध पद्य को लिखकर नीचे उत्तरार्ध को लिखें। एक-एक अक्षर से व्यवहित ऊपर और नीचे लिखने से मुरजबन्ध की रचना होती है।

पूर्वार्ध के विषम संख्यांक वर्णों को उत्तरार्ध के सम संख्यांक वर्णों के साथ मिलाकर लिखने से श्लोक का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के विषम संख्यांक वर्णों को पूर्वार्ध के सम संख्यांक वर्णों के साथ क्रमशः मिलाकर लिखने से उत्तरार्ध बन जाता है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि प्रथम पंक्ति के प्रथमाक्षर को द्वितीय पंक्ति के द्वितीयाक्षर के साथ; द्वितीय पंक्ति के प्रथमाक्षर को प्रथम पंक्ति के द्वितीयाक्षर के साथ दोनों पंक्तियों के वर्णों की समाप्ति पर्यन्त लिखना चाहिये। यह सामान्य मुरजबन्ध चित्रालंकार का लक्षण है।

मुरजबन्ध की रचना मुरज अर्थात् मृदङ्ग के आकार की हो जाती है इसलिये इसका यह नाम सार्थक है। प्रस्तुत श्लोक में मुरजबन्ध की रचना चित्र-1 में दर्शायी गयी है[2]-

---

1. देखें, **'अलंकार चिन्तामणि'**, पृ. 75

2. देखें, **'स्तुतिविद्या (जिनशतक)'**, पृ. 146-147
चित्रालंकारों के सामान्य नियम-
1. अनुस्वार और विसर्ग का अन्तर होने से चित्रालंकार भंग नहीं होता।
2. यमकादि अलंकारों में ड-ल, र-ल और व-ब में अभेद होता है।
3. यमकादि चित्रालंकारों में कहीं-कहीं श-ष और न-ण में भी अभेद होता है।

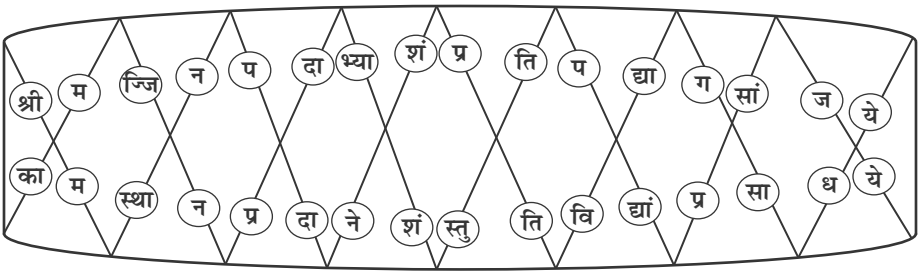

चित्र-१ (मुरजबन्ध)

इस चित्र से स्पष्ट है कि पूर्वार्ध के विषम संख्यांक (1, 3, 5, 7, 9, 11, 13, 15) अक्षरों को उत्तरार्ध के सम संख्यांक (2, 4, 6, 8, 10, 12, 14, 16) अक्षरों के साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने से श्लोक का पूर्वार्ध, और उत्तरार्ध के विषम संख्यांक (1, 3, 5, 7, 9, 11, 13, 15) अक्षरों को पूर्वार्ध के सम संख्यांक (2, 4, 6, 8, 10, 12, 14, 16) अक्षरों के साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने से श्लोक का उत्तरार्ध बन जाता है।

मुरजबन्ध चित्रालंकार 'स्तुतिविद्या' के 2, 6, 7, 8, 9, 29, 30, 31, 32, 33, 34, 35, 39, 40, 41, 42, 45, 49, 58, 59, 60, 61, 62, 63, 65, 67, 68, 69, 70, 71, 73, 74, 75, 76, 77, 78, 80, 82, 99, 101, 102, 103, 104 और 105 संख्या के पद्यों में भी है।

(मुरजबन्धो गोमूत्रिकाबन्धश्च)

स्नात स्वमलगम्भीरं जिनामितगुणार्णवम् ।
पूतश्रीमज्जगत्सारं जनायात क्षणाच्छिवम् ॥२॥

अन्वयार्थ - [**जन!**] हे भव्यजीवों! [**जिन अमित**] जिनेन्द्रदेव का अपरिमित [**गुणार्णवम्**] गुणसमुद्र [**स्वमलगम्भीरं**] अत्यन्त निर्मल, गम्भीर, [**पूतश्रीमज्जगत्सारं**] पवित्र, श्रीसम्पन्न और जगत् का सारभूत है। तुम उसमें एकाग्रचित्त होकर [**स्नात**] स्नान (अवगाहन) करो, उसके गुणों को पूर्णतया अपनाओ और (फलस्वरूप) [**क्षणात्**] शीघ्र ही [**शिवम्**] शिव (मोक्षपद) को [**आयात**] प्राप्त करो।

इस चित्रालंकार की मुरजबन्ध रचना इस प्रकार से है-

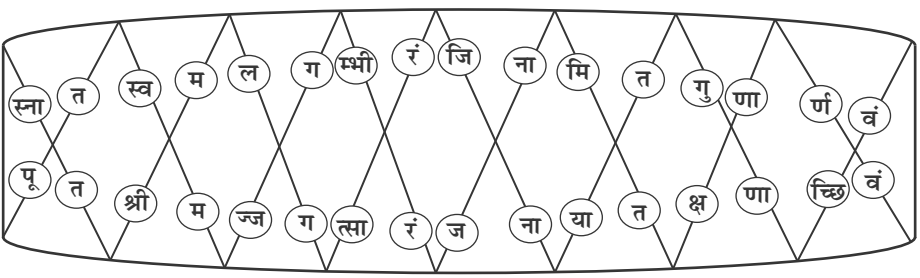

चित्र-२ (मुरजबन्ध)

इसकी गोमूत्रिकाबन्ध रचना प्रकार से है- (देखें, **'अलंकार चिन्तामणि'**, पृ. 373)

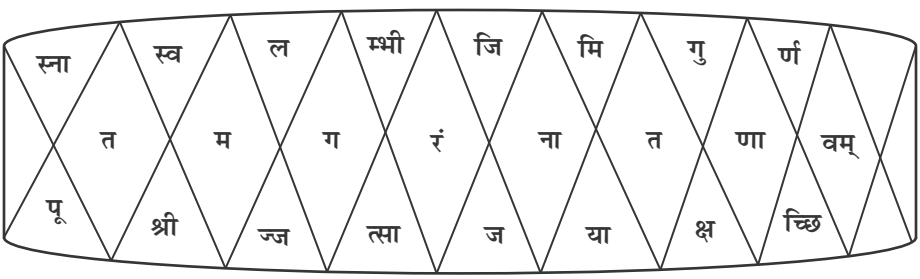

चित्र-३ (गोमूत्रिकाबन्ध)

(अर्द्धभ्रमगूढपश्चार्द्धः)

धिया ये श्रितयेतार्त्या यानुपायान्वरानताः ।
येऽपापा यातपारा ये श्रियाऽऽयातानतन्वत ॥३॥

आसते सततं ये च सति पुर्वक्षयालये ।
ते पुण्यदा रतायातं सर्वदा माऽभिरक्षत ॥४॥

(युग्मम्)

अन्वयार्थ - [**इतार्त्या ये**] जो पीड़ारहित (अनन्तगुणसम्पन्न) हैं, [**धिया श्रितया**] केवलज्ञानरूपी बुद्धि से सहित (युक्त) हैं, [**यान् उपायान्**] जिन्हें सेवा करने योग्य (सेवनीय) मानकर [**वराः नताः**] इन्द्रादि श्रेष्ठ पुरुष नमस्कार करते हैं, [**ये अपापाः**] और जो पापरहित हैं अथवा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित हैं, [**यातपाराः**] अगाध ज्ञानसमुद्र के पारगामी हैं (संसारसमुद्र को पार कर चुके हैं), [**ये आयातान्**] जो शरणागत भव्य पुरुषों को [**श्रिया अतन्वत्**] केवलज्ञानादि लक्ष्मी से विस्तृत करते हैं। [**च ये सततं**] और जो निरंतर [**सति**] शोभनीय (प्रशंसनीय) [**पुर्वक्षयालये**] उत्कृष्ट, अविनाशी परमपद में (मोक्षमन्दिर में) [**आसते**] स्थित रहते हैं (सदा निवास करते हैं), [**पुण्यदा**] पुण्य (पवित्रता, आत्मविशुद्धि) को देने वाले, [**ते**] वे जिनेश्वरदेव [**रतायातं**] शरणागत [**मा**] मेरी (मुझ भक्त की) [**सर्वदा**] हमेशा [**अभिरक्षत**] रक्षा करें।

जो भक्तिपूर्वक शरण में आये हुए भव्य प्राणियों को केवलज्ञानादि लक्ष्मी से सम्पन्न करते हैं, अर्थात् शरणागत प्राणी स्वर्गादि अभ्युदय और निःश्रेयस् (मोक्ष) सुख को प्राप्त होते हैं, और जो उत्कृष्ट तथा अविनाशी मोक्षमन्दिर में निरन्तर निवास करते हैं, उन पुण्यदा - कल्याण प्रदान करने वाले - सिद्ध-प्रभु के गुणानुराग से प्रेरित होकर मैं भी उनकी शरणागत हुआ हूँ। मुझ समन्तभद्राचार्य की वे निरन्तर रक्षा करें। अर्थात्, हे नित्य-निरंजन, शुद्ध-बुद्ध, अनन्त-सुख, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-वीर्य और अनन्त-दर्शन के धनी भगवन्!

आपकी भक्तिपूर्वक आराधना से मैं आत्मविकास करने में समर्थ हो सकूँ ऐसी शक्ति मुझे प्रदान करो।

अर्द्धभ्रम और गूढपश्चार्द्ध नामक चित्रालंकार

श्लोक के चारों चरणों को नीचे-नीचे फैलाकर लिखें। चारों चरणों के प्रथम और अन्तिम चार अक्षरों को मिलाने से श्लोक का प्रथम पाद बनता है। इन्हीं चारों चरणों के द्वितीय तथा उपान्त्य अक्षर मिलाने से द्वितीय पाद बन जाता है। इसी तरह से तृतीय और चतुर्थ पाद भी बना लेने चाहिये। इस प्रक्रिया से यह श्लोक अर्द्धभ्रम कहलाता है। इस पद के पूर्वार्ध में जो वर्ण आये हैं, उन्हीं में उत्तरार्ध के साथ सब वर्ण प्रविष्ट हो जाते हैं। एक प्रकार के समान वर्णों में अनेक प्रकार के समान वर्णों का भी प्रवेश हो सकता है। अतएव इसे गूढपश्चार्द्ध - पश्चार्ध भाग पूर्वार्ध भाग में गूढ़-निहित होने से - कहा जाता है।[1]

यह अलंकार इस ग्रन्थ के 18, 19, 20, 21, 27, 36, 43, 44, 56, 90 और 92 न. के श्लोकों में भी है। इस अलंकार में कभी द्वितीय, कभी तृतीय और कभी चतुर्थ पाद भी गूढ़ हो जाता है। जैसे कि इसी ग्रन्थ के 36वें श्लोक में द्वितीय पाद और 43वें श्लोक में चतुर्थ पाद गूढ़ हो गया है। दो, तीन, चार और उसके ऊपर के श्लोकों में क्रियासम्बन्ध होने पर क्रम से उनकी युग्म, विशेषक, कलापक और कुलक संज्ञा होती है।[2]

श्लोक 3 और 4 के लिये अर्द्धभ्रम चित्रालंकार की रचना अगले पृष्ठ पर (क्रमशः चित्र-4 और चित्र-5) दी गई है।

पूरा श्लोक चार पंक्तियों में लिखा गया है। जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है, पहली खड़ी पंक्ति (A1) और आठवीं खड़ी पंक्ति (A2) को मिलाने से श्लोक का प्रथम पाद बन जाता है। दूसरी खड़ी पंक्ति (B1) और सातवीं खड़ी पंक्ति (B2) को मिलाने से श्लोक का द्वितीय पाद बन जाता है। तीसरी खड़ी पंक्ति (C1) और छठवीं खड़ी पंक्ति (C2) को मिलाने से श्लोक का तृतीय पाद बन जाता है। और चौथी खड़ी पंक्ति (D1) और पाँचवीं खड़ी पंक्ति (D2) को मिलाने से श्लोक का चतुर्थ पाद बन जाता है।

---

1. देखें, **'अलंकार चिन्तामणि'**, पृ. 81

2. देखें, **'स्तुतिविद्या (जिनशतक)'**, पृ. 7

धिया ये श्रितयेतार्त्या यानुपायान्वरानता ।
येऽपापा यातपारा ये श्रियाऽऽयातानतन्वत ॥३॥

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	धि A1	या B1	ये C1	श्रि D1	त ↑	ये ↑	ता ↑	र्त्या ↑
B	या	नु	पा	या	न्व	रा	न	ता
C	ये	पा	पा	या	त	पा	रा	ये
D	श्रि ↓	या ↓	या ↓	ता ↓	न D2	त C2	न्व B2	त A2

चित्र-४ (अर्द्धभ्रम)

आसते सततं ये च सति पुर्वक्षयालये ।
ते पुण्यदा रतायातं सर्वदा माऽभिरक्षत ॥४॥

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	आ A1	स B1	ते C1	स D1	त ↑	तं ↑	ये ↑	च ↑
B	स	ति	पु	र्व	क्ष	या	ल	ये
C	ते	पु	ण्य	दा	र	ता	या	तं
D	स ↓	र्व ↓	दा ↓	मा ↓	भि D2	र C2	क्ष B2	त A2

चित्र-५ (अर्द्धभ्रम)

(साधिकपादाभ्यास-यमकः)

नतपीला सनाशोक सुमनोवर्षभासितः ।
भामण्डलासनाऽशोकसुमनोवर्षभासितः ॥५॥

(गुप्तक्रियो मुरजबन्धः)

दिव्यैर्ध्वनिसितच्छत्रचामरैर्दुन्दुभिस्वनैः ।
दिव्यैर्विनिर्मितस्तोत्रश्रमदर्दुरिभिर्जनैः ॥६॥

(युग्मम्)

अन्वयार्थ - [**ऋषभ!**] हे ऋषभदेव! [**नतपीलासन**] आप नम्र भक्तजनों की पीड़ा (सांसारिक व्यथा) को हरने वाले हैं, [**अशोक**] आप शोकरहित हैं, [**सुमनः**] आप शोभन हृदय (लोक-कल्याणकारक) हैं, [**भामण्डल-आसन-अशोक-सुमनोवर्षभासितः**] आप भामण्डल, सिंहासन, अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि से शोभित, [**दिव्यैर्ध्वनिसितच्छत्रचामरैः**] मनोहर दिव्यध्वनि, श्वेतच्छत्र, चामर और [**दुन्दुभिस्वनैः**] दुन्दुभिनाद से शोभित होकर, [**विनिर्मितस्तोत्रश्रमदर्दुरिभिः**] अनेक स्तोत्रों में श्रम करने वाले - मधुरध्वनि से अनेक स्तुति करने वाले - तथा दर्दुर आदि वाद्यों से सहित [**दिव्यैः**] दिव्य [**जनैः**] उत्तमजनों - देवेन्द्र, विद्याधर और चक्रवर्ती आदि - के साथ [**आसितः**] समवसरणभूमि में स्थित हुए थे, और (उन्हीं के साथ) [**दिवि**] आकाशमार्ग से [**ऐः**] विहार किया था; आप मेरी [**अव**] रक्षा करो।

जब भगवान् समवसरण भूमि में विराजमान होते हैं तब उनके तीर्थंकर नामकर्म के उदय के फलस्वरूप अष्ट प्रातिहार्य-रूप विभूति प्रकट होती है जिससे वे अत्यन्त शोभायमान् होते हैं। समवसरण में उपस्थित देव, विद्याधर आदि भव्य जीव तरह-तरह के बाजे बजाते हुए मनोहर शब्दों से भगवान् की स्तुति करते हैं। तथा जब भगवान् का आकाशमार्ग से विहार होता है तब भी प्रातिहार्य-रूप विभूति और अनेक उत्तम जन उनके साथ रहते हैं। इन सब

के विवरण के द्वारा आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् ऋषभदेव का अलौकिक प्रभाव प्रकट किया है।

यमक अलंकार का लक्षण

श्लोक की आवृत्ति, श्लोक के पाद की आवृत्ति, पद की आवृत्ति, वर्ण की आवृत्ति, भिन्नार्थ और अभिन्नार्थ श्लोक के आदि, मध्य और अन्त की आवृत्ति से युक्त और अयुक्त भी यमकालंकार होता है अर्थात् उक्त आवृत्तियाँ यमक का विषय हैं। आशय यह है कि जहाँ अर्थ की भिन्नता रहते हुए श्लोक, पाद, पद और वर्णों की पुनरावृत्ति होती है वहाँ यमकालंकार होता है। यह आवृति पाद के आदि, मध्य अथवा अन्त में होती है तथा कहीं अन्य पाद, पद और वर्णों से व्यवहित और कहीं अव्यवहित।[1]

यमकालंकार के प्रमुख भेद निम्नप्रकार हैं-

1. प्रथम और द्वितीय पाद की समानता होने से मुख-यमक होता है।
2. प्रथम और तृतीय पाद की समानता होने से सन्दंश-यमक होता है।
3. प्रथम और चतुर्थ पाद की समानता होने से आवृत्ति-यमक होता है।
4. द्वितीय और तृतीय पाद की समानता होने से गर्भ-यमक होता है।
5. द्वितीय और चतुर्थ पाद की समानता होने से संदष्टक-यमक होता है।
6. तृतीय और चतुर्थ पाद की समानता होने से पुच्छ-यमक होता है।
7. चारों चरणों के एक समान होने से पंक्ति-यमक होता है।
8. प्रथम और चतुर्थ तथा द्वितीय और तृतीय पाद की समानता होने से परिवृत्ति-यमक होता है।
9. प्रथम और और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ पाद की समानता होने से युग्मक-यमक होता है।
10. श्लोक का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध एक समान होने से समुद्गक-यमक होता है।
11. एक ही श्लोक के दो बार पढ़े जाने पर महा-यमक होता है।

---

1. देखें, **'अलंकार चिन्तामणि'**, पृ. 100-101

पादांश, पदांश और वर्णों की आवृत्ति की अपेक्षा से यमकालंकार के अनेक भेद हैं।

प्रस्तुत श्लोक न. 5 में प्रथम पाद के अन्तिम पाँच अक्षरों और द्वितीय पाद की पुनरावृत्ति की गई है, अतः 'साधिकपादाभ्यास-यमकालंकार' है। द्वितीय और चतुर्थ पाद की समानता होने से 'संदष्टक-यमक' है।

इस ग्रन्थ के श्लोक न. 15 में 'युग्मक-यमक', श्लोक न. 25, 52 और 108 में 'समुद्गक-यमक', श्लोक न. 11-12, 16-17, 37-38, 46-47, 76-77 और 106-107 में 'महा-यमक' (श्लोकयमक) है।[1]

श्लोक न. 6 का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

दिव्यैर्ध्वनिसितच्छत्रचामरैर्दुन्दुभिस्वनैः ।
दिव्यैर्विनिर्मितस्तोत्रश्रमदर्दुरिभिर्जनैः ॥६॥

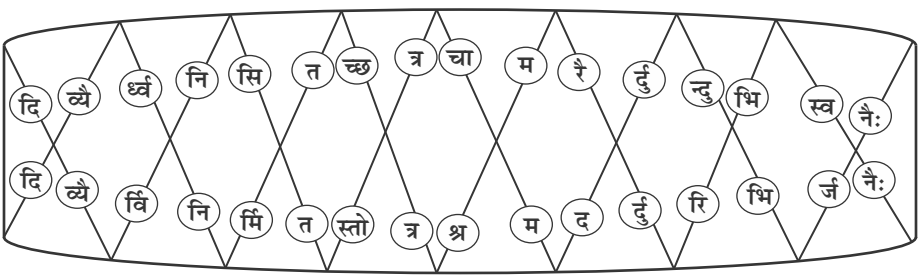

चित्र-६ (मुरजबन्ध)

2. देखें, **'स्तुतिविद्या (जिनशतक)'**, पृ. 10

(मुरजबन्धः)

यतः श्रितोपि कान्ताभिर्दृष्टा गुरुतया स्ववान् ।
वीतचेतोविकाराभिः स्त्रष्टा चारुधियां भवान् ॥७॥

अन्वयार्थ - [**वीतचेतोविकाराभिः**] नष्ट हो गये हैं मानसिक विकार जिनके अर्थात् निर्विकार [**कान्ताभिः**] स्त्रियों के द्वारा [**श्रितः**] आश्रित अथवा सेवित होते हुए [**अपि**] भी, [**स्ववान्**] आत्मवान्-जितेन्द्रिय होने के कारण, आप [**गुरुतया**] गुरुरूप से अथवा महान्-पूज्यरूप से [**दृष्टा**] देखे जाते हैं (माने जाते हैं), [**यतः**] इसलिए [**भवान्**] आप ही [**चारुधियां**] निर्मल-प्रशंसनीय बुद्धि के [**स्त्रष्टा**] विधाता हो।

जगत् में जिनकी सेवा में स्त्रियाँ रहती हैं वे ज्ञानी और महान् नहीं कहे जाते हैं किन्तु आपकी सेवा में सुन्दर देवियाँ रहती हैं - वे आपकी उपासना करती हैं - फिर भी आप ज्ञानी और महान् माने जाते हो। कारण यह है कि एक तो वे स्त्रियाँ निर्विकार और शुद्ध चित्त वाली होती हैं और दूसरा यह कि आप आत्मवान्-जितेन्द्रिय हो।

चूँकि 'गुरु' शब्द का एक अर्थ 'पिता' भी होता है इसलिए इस श्लोक का अर्थ यह भी हो सकता है- 'हे प्रभो! आप अनेक सुन्दर स्त्रियों के द्वारा सेवित होने पर भी उन्हें पितृभाव से देखते हैं, अर्थात् जिस प्रकार पुत्री के प्रति पिता की दृष्टि विकार-रहित होती है उसी तरह जितेन्द्रिय और ज्ञानवान् होने से आपकी दृष्टि भी विकार-रहित होती है। और इसलिए आप ही भव्य प्राणियों के हृदय में निर्मल-प्रशंसनीय बुद्धि के उत्पादक-विधाता हो।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

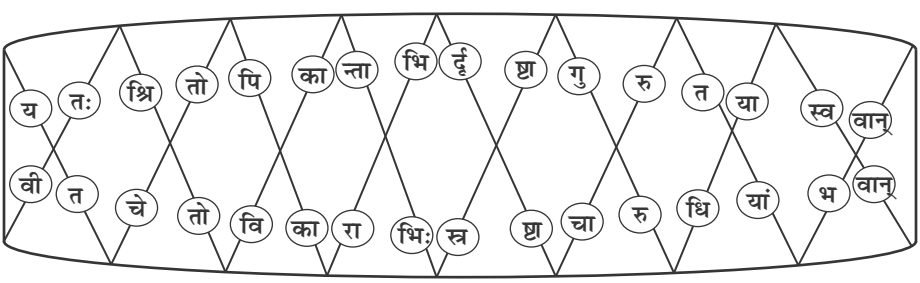

चित्र-७ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

विश्वमेको रुचामाऽऽको व्यापो येनार्य्य! वर्त्तते ।
शश्वल्लोकोऽपि चाऽलोको द्वीपो ज्ञानार्णवस्य ते ॥८॥

अन्वयार्थ - [**आर्य!**] हे श्रेष्ठ आदिनाथ भगवान्! [**एकः**] अद्वितीय [**विश्वं**] सम्पूर्ण विश्व [**ते**] आपकी [**रुचां**] ज्ञानज्योति को [**आकः**] प्राप्त है - आपकी ज्ञानज्योति में प्रतिबिम्बित है, [**व्यापः**] व्यापकरूप से (अर्थात् सारे लोक-अलोक आपकी ज्ञानज्योति में झलकते हैं), [**येन**] इसलिए [**शश्वत्**] अनादिनिधन द्रव्य का आधार यह [**लोकः**] लोकाकाश [**च अलोकः**] और अलोकाकाश [**अपि**] भी [ते] आपके [**ज्ञानार्णवस्य**] ज्ञानरूपी-समुद्र का [**द्वीपः वर्त्तते**] एक द्वीप (जैसे स्थित) है।

जिस प्रकार विस्तृत समुद्र के भीतर द्वीप होते हैं, उसी प्रकार आपके ज्ञान के भीतर लोक-अलोक हैं। जैसे द्वीप की अपेक्षा समुद्र का विस्तार बहुत अधिक होता है, वैसे ही लोक-अलोक की अपेक्षा आपके ज्ञान का विस्तार बहुत अधिक है। पदार्थ अनन्त अवश्य हैं, परन्तु वे आपके अनन्त-ज्ञान की अपेक्षा अल्प हैं; अनन्त के भी अनन्त भेद होते हैं।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

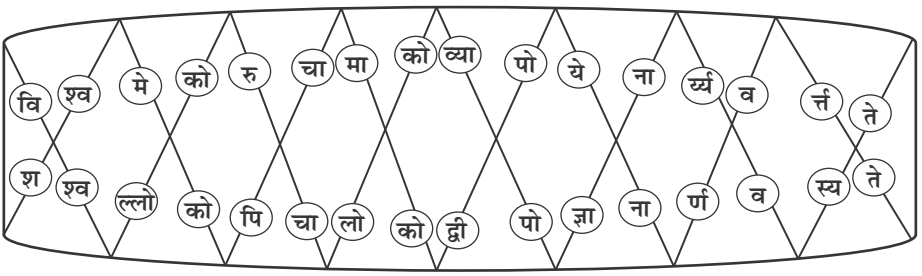

चित्र-८ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

श्रितः श्रेयोऽप्युदासीने यत्त्वय्येवाऽश्नुते परः ।
क्षतं भूयो मदाहाने तत्त्वमेवार्चितेश्वरः ॥९॥

अन्वयार्थ - **[उदासीने]** सब में माध्यस्थ भाव रखने वाले **[अपि एव]** होने पर भी **[यत्]** जिस प्रकार **[त्वयि]** आपमें **[श्रितः]** आश्रय (शरण) लेने वाले **[परः]** जीव **[श्रेयः]** कल्याण को **[अश्नुते]** प्राप्त होते हैं, **[मदाहाने]** मद की जिनके हानि नहीं है (अर्थात् जो रागी-द्वेषी हैं) उनका [श्रितः] आश्रय लेने वाले जीव **[भूयः]** बार-बार **[क्षतं]** दुःख को **[एव]** ही प्राप्त होते हैं। **[तत्]** इसलिए (हे प्रभो!) **[त्वं]** आप **[एव]** ही **[अर्चितेश्वरः]** पूज्य ईश्वर हो।

हे भगवन्! यद्यपि आप राग-द्वेष रहित होने से परम उदासीन भाव को प्राप्त हैं, तथापि आपकी स्तुति-वन्दना करने वाला पुरुष अवश्य ही कल्याण को प्राप्त होता है। जो पुरुष राग-द्वेष से युक्त देवों की स्तुति-वन्दना करते हैं, वे दुःख को ही प्राप्त होते हैं, उनका कुछ भी कल्याण नहीं होता है। जीवों को प्रशस्त मार्ग दिखलाने वाले केवल आप ही हैं और इसलिए आप ही हमारे पूज्य ईश्वर हो।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

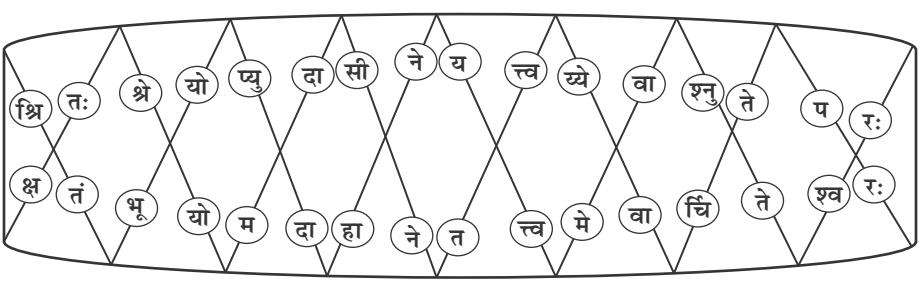

चित्र-९ (मुरजबन्ध)

(गतप्रत्यागतभागः)

भासते विभुताऽस्तोना ना स्तोता भुवि ते सभाः ।
याः श्रिताः स्तुत! गीत्या नु नुत्या गीतस्तुताः श्रिया ॥१०॥

अन्वयार्थ - [**स्तुत!**] हे स्तुति के योग्य प्रभो! [**ते स्तोता**] आपकी स्तुति करने वाला [**ना**] भव्य पुरुष [**भुवि**] पृथिवी पर [**याः**] जो [**श्रिया**] अष्ट-प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी से [**श्रिताः**] शोभित है, [**नु**] निश्चय से [**गीत्या नुत्या**] संगीतमय स्तोत्र से जिसके [**गीतस्तुताः**] गीत गाये और स्तुति की गई है, [**विभुताऽस्तोना**] जो विभुता से हीन नहीं है अर्थात् जिसने अपनी विभुता से अन्य सभाओं को तिरस्कृत कर दिया है, ऐसी [**सभाः**] समवसरण-सभा में [**भासते**] शोभित होता है।

इस श्लोक में बताया गया है कि भगवान् का स्तवन करने से मनुष्य तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है जिससे वह भी समवसरण-सभा को पाकर भगवान् के समान ही पूज्य बन जाता है। यह तीर्थंकर पद किसी अन्य आराध्य की आराधना से प्राप्त नहीं हो सकता है क्योकि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध केवली या श्रुतकेवली के चरण-सान्निध्य में ही होता है और जिनभक्त मनुष्य के ही होता है।

गतप्रत्यागतार्द्ध अलंकार का लक्षण

श्लोक के अर्धभाग को पंक्त्याकार से लिखकर क्रमपूर्वक पढ़ना चाहिये। इस अलंकार में विषेशता यह है कि क्रम से पढ़ने में जो अक्षर आते हैं, वे ही अक्षर विपरीत क्रम - दूसरी ओर - से पढ़ने में भी आते हैं। इसी तरह श्लोक के उत्तरार्धभाग को भी लिखकर पढ़ना चाहिये। गत-प्रत्यागत विधि अर्धश्लोक में होने पर गतप्रत्यागतार्द्ध अलंकार होता है।[1]

जहाँ सम्पूर्ण श्लोक में गत-प्रत्यागत विधि होती है वहाँ गतप्रत्यागत अथवा अनुलोम-प्रतिलोम अलंकार कहलाता है। कहीं-कहीं गत-प्रत्यागत विधि श्लोक के एक-एक पाद में भी होती है। इस श्लोक में यही विधि है।

---

1. देखें, **'अलंकार चिन्तामणि'**, पृ. 86

अनुस्वार और विसर्ग की हीनाधिकता से चित्रालंकार भग्न नहीं होता है।

श्लोक न. 10 के अलंकार का चित्रण इस प्रकार से है–

भासते विभुताऽस्तोना ना स्तोता भुवि ते सभाः ।
याः श्रिताः स्तुत! गीत्या नु नुत्या गीतस्तुताः श्रिया ॥१०॥

श्लोक की प्रथम पंक्ति का प्रथमार्धभाग–

भा	स	ते	वि	भु	ता	स्तो	ना

इन अक्षरों को विपरीत क्रम से लिखें–

ना	स्तो	ता	भु	वि	ते	स	भा

यह इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का उत्तरार्धभाग है।

श्लोक की द्वितीय पंक्ति का प्रथमार्धभाग–

याः	श्रि	ताः	स्तु	त	गी	त्या	नु

इन अक्षरों को विपरीत क्रम से लिखें–

नु	त्या	गी	त	स्तु	ता	श्रि	या

यह इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति का उत्तरार्धभाग है।

नोट – जैसा पहले कहा गया है, अनुस्वार और विसर्ग की हीनाधिकता से चित्रालंकार भग्न नहीं होता है।

चित्र-१० (गतप्रत्यागतभाग)

इसी प्रकार के श्लोक न. 83, 88, 95 हैं।

(श्लोकयमकः)

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतस्तु ते ।
चिराय भवते पीड्यमहोरुगुरवेऽशुचे ॥११॥

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतः स्तुते ।
चिराय भवतेपीड्य! महोरुगुरवे शुचे ॥१२॥

(युग्मम्)

अन्वयार्थ - **[ईड्य महोरुगुरवे शुचे]** हे ईड्य! (स्तुति करने योग्य) महा दिव्यध्वनि-रूप किरणों से सुशोभित सूर्य, **[शुचे]** निर्मल, सर्वकर्मनिर्मुक्त! **[विद्]** ज्ञानवान् पुरुष **[स्वयं]** स्वतः **[नाशं शमयितुं]** विनाश को नष्ट करने के लिये अथवा कर्मों का शमन करने के लिये, **[चिराय]** अविनाशी-अक्षय पद को **[इत्वा]** प्राप्त करने के लिये, **[अशुचे]** शोक-संताप रहित **[ते]** आपको **[सन्नतः तु]** सम्यक् प्रकार से (शुद्ध निर्मल मन-वचन-काय से) **[भवते]** प्रभावता है तथा **[न पीड्य (अपीड्य) महोरुगुरवे भवते]** निर्बाध प्रताप और केवलज्ञान से सम्पन्न आपकी **[स्तुते]** स्तुति के विषय में **[सन्नतः]** लीन होता है वह **[विदित्वा]** ज्ञानवान् **[अशं]** दुःख को पाकर **[अपि]** भी **[स्वयं]** शोभनीय पुण्य-स्वरूप **[चिराय शं]** अनन्तकालीन परम सुख को **[अयितुं]** प्राप्त **[भवते]** होता है।

आचार्य समन्तभद्र ने इन युगल श्लोकों द्वारा प्रभु की स्तुति करने के फल को प्रकट किया है। बताया गया है कि जो पुरुष शुद्ध भावों से श्री आदीश्वर भगवान् की स्तुति में लीन होता है, भगवान् को आत्मसात् करता है, वह पूर्व अवस्था में कायक्लेशादि तपश्चरण के द्वारा कष्ट को प्राप्त करके भी, अन्त में सातिशय पुण्यानुबन्धी पुण्य बाँधकर शीघ्र ही अविनाशी मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है। स्वतः ही सिद्ध-स्वरूप हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रभु की भक्ति से मोक्षपद की प्राप्ति का कारणभूत सातिशय पुण्यानुबन्धी पुण्य का

बन्ध होता है।

जैसा कि पहले (श्लोक न. 5 के अन्तर्गत) बताया जा चुका है, एक ही श्लोक की पुनरावृत्ति - दोनों श्लोकों के अक्षरों में भिन्नता न होते हुए भी वे भिन्न-भिन्न अर्थ को लिये हुए हों - तब महा-यमक अलंकार होता है।

(प्रथमपादोद्भूतपश्चार्द्धैकाक्षरविरचितश्लोकः)

ततोतिता तु तेतीतः तोतृतोतीतितोतृतः[1] ।
ततोऽतातिततोतोते तता ते ततोततः ॥१३॥

'ततोतिता' – हे ज्ञानावरणादि कर्मों के घातक प्रभो, तेरी विशालता है!
'तु' – विशेष रूप से
'ते' – आपका, अर्थात् जिनका भक्ति और ज्ञानादि से सम्पन्न जीवों के प्रतिपालन का स्वभाव है
'अति' – अति धातु पूजा अर्थ में है – पूजा वा ज्ञानादि गुणों को प्राप्त करने वाले
'इतः' – इनसे
'तोतृता' – ज्ञानशीलता, ज्ञातृता
'ऊतिः' – रक्षा अथवा वृद्धि
'इतिः' – इण् धातु गति अर्थ में है वा प्राप्ति अर्थ में है
'तोतृतोतीतिः' = तोतृतोतेः इतिः – ज्ञानशीलता-ज्ञानादिगुणों – ज्ञातृत्व – की वृद्धि प्राप्त करना अथवा ज्ञानशीलता की रक्षा का विज्ञान
'तोतृतोतीतितोतृतः' – ज्ञातृत्व की वृद्धि की प्राप्ति अथवा रक्षा के घातक इन ज्ञानावरणादि कर्मों से रक्षा करने वाले
'ततः' – इस कारण
'अतातिततोतोते' – हे परिग्रह की प्रधानता से रहित, अपरिग्रह के कारण, श्रेष्ठ प्रभो!
'तता' – विशालता, प्रभुता अर्थात् त्रैलोक्य का स्वामित्व
'ते' – आपकी
'ततोततः' – बन्ध को नष्ट करने वाले; द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म-रूप आवरण को नष्ट करने वाले।

अर्थ – हे भगवन्! आपने ज्ञातृत्व-वृद्धि की प्राप्ति को अवरुद्ध करने वाले इन

1. पाठान्तर – **तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः**

ज्ञानावरणादि कर्मों से अपनी विशेष रक्षा की है - ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान, केवलदर्शनादि गुणों को प्राप्त किया है। आप परिग्रह की पराधीनता से रहित हैं, अर्थात् आप परिग्रह-रहित, स्वतन्त्र हैं। इसलिये आप पूज्य और सुरक्षित हैं। प्रभो! आपने ज्ञानावरणादि कर्मों के विस्तृत - अनादिकालीन - सम्बन्ध को नष्ट कर दिया है; अतः आपकी विशालता-प्रभुता स्पष्ट है। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं।

इस पद्य के प्रथम पाद में जो अक्षर है वह ही अक्षर शेष समस्त पादों में यत्र-तत्र स्थित है। पद्य की रचना 'तकार' व्यंजन वर्ण से ही हुई है। अतः यहाँ एक व्यंजन द्वारा निर्मित चित्रालंकार है।[1]

---

1. देखें, **'अलंकार चिन्तामणि'**, पृ. 83

(एकाक्षरविरचितैकैकपादः श्लोकः)

येयायाययेयाय नानानूननाननानन ।
मममममामामामितातततीतितततीतितः ॥१४॥

'येय' - प्राप्य है पुण्य जिनको या जिन्हें, 'अयः' - सुख अथवा मार्ग; 'येयाय' अर्थात् सातिशय पुण्य जिन्होंने प्राप्त किया है।

'आय' - प्राप्त है; 'अयः' - सुख जिनको; वे 'आयाय' कहलाते हैं।

'येय' - प्राप्त करने योग्य, 'अयः' - मार्ग; 'येयाय'

'येयायाययेयाय' - वीतराग प्रभु का सम्बोधन है 'येयायाययेयाय'। महान् पुण्यात्मा तथा पुण्यबन्ध के सम्मुख सुखी (निराकुल) जीवों के द्वारा प्राप्त करने योग्य है मार्ग जिनका, ऐसे हे जिनेश्वर प्रभो!

'नाना' - अनेक

'अनून' - परिपूर्ण है

'आनन' - मुख

'अननं' - केवलज्ञान जिसके

'नानानूननाननानन' - समवसरण में अनेक परिपूर्ण मुख और केवलज्ञान से युक्त!

'मम' - मेरे, भक्त के

'मम' - मोह, राग-द्वेषादि विकारभाव, अहंकार और ममकार; नहीं है ममकार जिसके, वह 'अमम'। 'अमम' भी सम्बोधन है।

'अमम्' - व्याधि को

'आम' - नष्ट कीजिये

'मममममामम' - हे 'अमम'! आप मेरे भी जन्म-मरण रूप रोग को नष्ट कीजिये।

'अमिता' - अपरिमित

'आततिः' - महान्

'ईतयः' - व्याधयः, व्याधियों का समूह

'इति' - गमन या प्रसार

'तः' - घात करने वाले

'अमिताततीतितततीतितः' – ससार सम्बन्धी अपरिमित ईतियों-व्याधियों के समूह के प्रसार का नाश करने वाले, हे प्रभो!

अर्थ – हे भगवन्! आपका यह मोक्षमार्ग उन्हीं प्राणियों को प्राप्त हो सकता है, जो पुण्यबन्ध के सम्मुख हैं या जिन्होंने पहले पुण्यबन्ध किया है। समवसरण में आपके चार मुख दिखलाई पड़ते हैं। आपका पूर्ण केवलज्ञान समस्त पदार्थों को एक साथ जानता है। यद्यपि आप ममताभाव (मोह परिणामों) से रहित हैं, तो भी संसार-सम्बन्धी अनेक बड़ी-बड़ी व्याधियों को नष्ट कर देते हैं। हे प्रभो! आप मेरे भी जन्म-मरण रूप रोग को नष्ट कीजिये।

यद्यपि भगवान् वीतराग हैं – कुछ करते नहीं हैं – परन्तु उनके नामोच्चारण से सारे रोग, शोक, आधि, व्याधि सब दूर हो जाते हैं। अतः उपचार से कहा जाता है कि भगवान् आधि-व्याधि नाशक हैं।

इस श्लोक का प्रत्येक पाद एक-एक व्यंजन अक्षर से रचित है, अतः इस श्लोक को एकाक्षर-विरचित-एकैकपाद कहते हैं।

(पादाभ्याससर्वपादन्तयमकः, युग्मकयमकः)

गायतो महिमायते गा यतो महिमाय ते ।
पद्मया स हि तायते पद्मयासहितायते ॥१५॥

अन्वयार्थ - [**महिमाय**] हे स्वयं महिमा को प्राप्त, [**पद्मयासहितायते**] लक्ष्मी से शोभित अनुपम सौन्दर्ययुक्त शरीर के धारक अथवा कमलों पर विहार करने वाले और भव्य जीवों को हितकारी आज्ञा (उपदेश) देने वाले भगवन्! [**हि**] निश्चय ही जो [**ते**] आपका [**गायतः**] गुणगान करता है उसकी [**गा**] वाणी [**महिमायते**] महिमा को प्राप्त होती है, अनेक अतिशयों से युक्त होती है, [**यतः**] इसलिये [**मया**] मेरे द्वारा [**स**] वह [**पद्**] चरण [**तायते**] विस्तृत किये जाते हैं अर्थात् आपके चरणों का मैं गुणगान करता हूँ, आपके चरणों की स्तुति करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ।

इस श्लोक में जो अक्षर जिस प्रकार प्रथम चरण में स्थित है, वैसे द्वितीय चरण में है, तथा जैसे तृतीय चरण में है, वैसे ही चतुर्थ चरण में है। अतः इस श्लोक की रचना को पादाभ्याससर्वपादन्तयमक वा युग्मकयमक कहते हैं।

श्लोक की प्रथम पंक्ति का प्रथमार्धभाग-

गा	य	तो	म	हि	मा	य	ते

यही प्रथम पंक्ति का उत्तरार्धभाग है-

गा	य	तो	म	हि	मा	य	ते

श्लोक की द्वितीय पंक्ति का प्रथमार्धभाग-

प	द्म	या	स	हि	ता	य	ते

यही द्वितीय पंक्ति का उत्तरार्धभाग है-

प	द्म	या	स	हि	ता	य	ते

चित्र-११ (युग्मकयमक)

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले
समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥ (१-१-१)

जो स्वयम्भू थे (अर्थात् अपने आप दूसरों के उपदेश के बिना ही मोक्ष के मार्ग को जानकर और उस रूप आचरण कर अनन्तचतुष्टय-रूप अपूर्व गुणों के धारी परमात्मा), सर्व प्राणियों के हितकारक थे, तथा सम्यग्ज्ञान की विभूति-रूप नेत्रों से युक्त थे। गुणों के समूह से युक्त वचनों के द्वारा अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करने वाले ऐसे श्री ऋषभदेव भगवान् गुणों से युक्त किरणों के द्वारा अन्धकार का नाश करने वाले चन्द्रमा की तरह इस भूतल पर शोभायमान हुए थे।

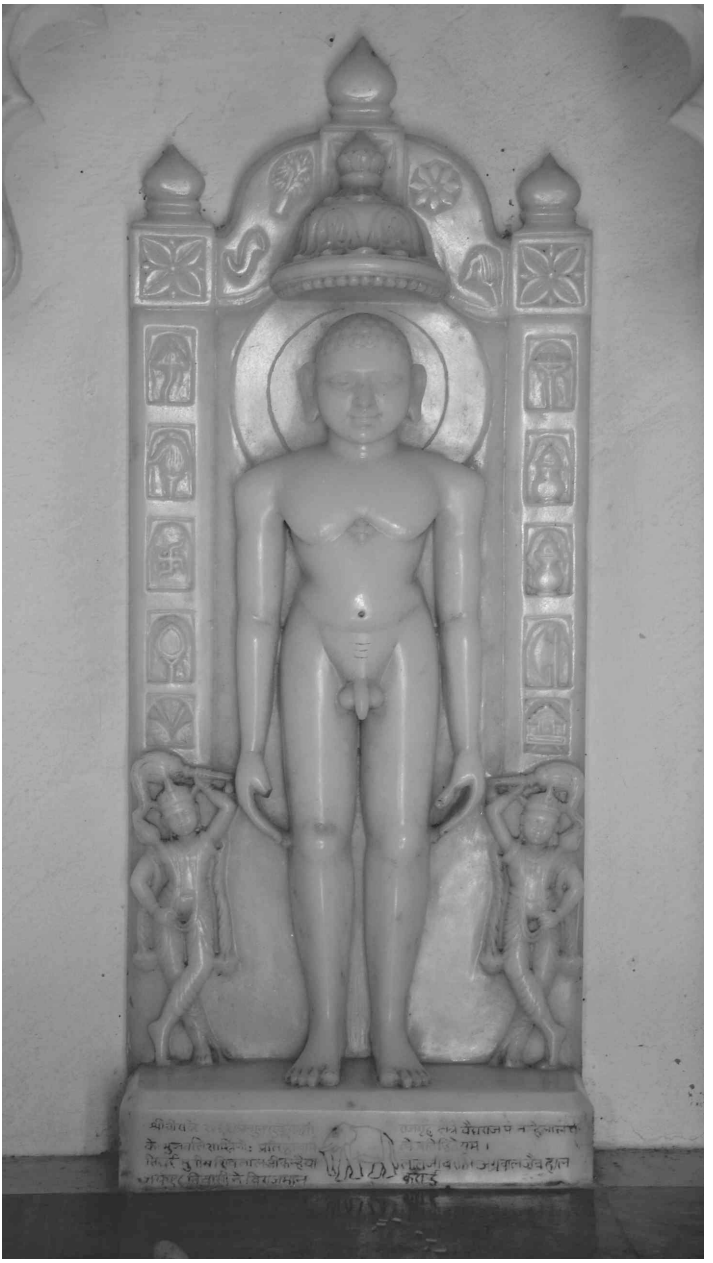

श्री अजितनाथ जिन

चिह्न - गज (हाथी)　　प्रथम गणधर - श्री केशरि (सिंह) सेन स्वामी

ॐ श्री अजित-जिन-स्तुतिः ॐ

(श्लोकयमकः)

सदक्षराजराजित प्रभो दयस्व वर्द्धनः ।
सतां तमो हरन् जयन् महो दयापराजितः ॥१६॥

सदक्षराजराजित प्रभोदय स्ववर्द्धनः ।
स तान्तमोह रंजयन् महोदयापराजितः ॥१७॥

(युग्मम्)

अन्वयार्थ (१६) - [**अक्षर!**] हे अनश्वर! [**अजर**] हे जरा-रहित! [**अजित**] हे द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ भगवान्! [**प्रभो**] हे प्रभो! [**दयापर**] हे दयाप्रधान! [**सतां**] सज्जन, भव्य जीवों के [**तमः**] अज्ञान अंधकार का [**हरन्**] हरण (नाश) करने वाले, [**अजितः**] दूसरे हरिहरादिक के द्वारा नहीं जीते जाने वाले, [**जयन्**] (मोहनीय आदि कर्मों को) जीतने वाले, [**वर्द्धनः**] ज्ञानादि गुणों से वृद्धि को प्राप्त, भगवान्! मेरे लिये [**सत्**] समीचीन [**महः**] (केवल) ज्ञान को [**दयस्व**] प्रदान करो।

अन्वयार्थ (१७) - [**सदक्षराजराजित!**] हे दक्ष-समर्थ राजाओं से शोभित! [**प्रभोदय**] हे ज्ञान की वृद्धि (केवलज्ञान) से युक्त! [**तान्तमोह**] नष्ट हो चुका है मोह-विकार जिनका अर्थात् मोह-विकार से शून्य! [**स्ववर्द्धनः**] आप आत्मीय-जनों की वृद्धि करने वाले - बढ़ाने वाले - हैं, [**महोदयापराजितः**] आप महान् ऐश्वर्यशाली इन्द्र, चक्रवर्ती आदि महापुरुष और काम-क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को जीतने वाले मुनिजनों को [**रंजयन्**] अनुरंजित-आनन्दित करते हैं; हे अजितनाथ भगवान्! [**सः**] वह, [**महः**] केवलज्ञान [**दयस्व**] मुझे भी प्रदान करो। यहाँ पर **'महो दयस्व'** अर्थात्

'महः' (केवलज्ञान) तथा **'दयस्व'** (प्रदान करो) का सम्बन्ध श्लोक 16 से करना चाहिये।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, एक ही श्लोक की पुनरावृत्ति - दोनों श्लोकों के अक्षरों में भिन्नता न होते हुए भी वे भिन्न-भिन्न अर्थ को लिये हुए हों - तब महा-यमक अलंकार होता है। श्लोकयुग्मम् 11 व 12 भी इसी अलंकार को लिये हुए हैं।

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

अद्यापि यस्याजितशासनस्य
सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् ।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं
स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके ॥ (२-२-७)

जिनका अनेकान्त शासन दूसरों (एकान्तवादियों) के द्वारा पराजित नहीं हो सकता है और जो सत्पुरुषों के प्रधान नायक हैं (भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में प्रवर्तन कराने वाले हैं), आज भी इस लोक में अपने इष्ट प्रयोजन को सिद्ध करने की इच्छा रखने वाले जनसमूह के द्वारा उन भगवान् अजितनाथ का परम पवित्र नाम प्रत्येक मंगल के निमित्त सादर ग्रहण किया जाता है।

श्री शंभवनाथ (संभवनाथ) जिन

चिह्न - अश्व (घोड़ा)

प्रथम गणधर - श्री चारुदत्त स्वामी

ॐ श्री शंभव (संभव)-जिन-स्तुतिः ॐ

(अर्द्धभ्रमः)

नचेनो न च रागादिचेष्टा वा यस्य पापगा ।
नो वामैः श्रीयतेऽपारा नयश्रीर्भुवि यस्य च ॥१८॥

पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्रुचा ।
स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्य शंभव ॥१९॥

(युग्मम्)

अन्वयार्थ - [**यस्य**] जिसका [**इनः**] स्वामी [**न च**] नहीं है, [**वा**] और [**पापगा**] पापबन्धकारक [**रागादिचेष्टा**] रागादिरूप मन-वचन-काय की चेष्टाओं का [**न च**] सर्वथा अभाव हो गया है, [**च यस्य**] और जिसकी [**अपारा**] अगाध अर्थ से निचित (पूरित) [**नयश्रीः**] नयलक्ष्मी [**भुवि**] इस भूतल पर [**वामैः**] मिथ्यादृष्टियों के [**श्रीयते**] आश्रित [**नः**] नहीं है (अर्थात् आपकी नय-व्यवस्था को मिथ्यादृष्टि नहीं जान सकते)। [**वामेश!**] हे इन्द्र, चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषों के नायक! [**एकार्च्य!**] हे अद्वितीय पूज्य! [**शंभव!**] हे (तृतीय तीर्थंकर) शंभवनाथ जिनेन्द्र! [**भयात्**] संसार के दःखों से भयभीत होकर, [**तन्वायातं**] शरीर के साथ आपके समीप आया हूँ, [**पूतस्वनवमाचारं**] मेरा आचार पवित्र और उत्कृष्ट है, [**नतं**] आपके चरणों में नतमस्तक हुए [**मा**] मेरी [**स्वया**] स्वकीय (अपने) [**रुचा**] तेज (ज्ञान) के द्वारा [**पाया**] रक्षा कीजिये।

जिनेन्द्र भगवान् किस दृष्टि से भक्त का दुःख दूर करने में अथवा रक्षा करने में समर्थ होते हैं? यद्यपि वे राग-द्वेष से रहित हैं, कुछ भी करने वाले नहीं हैं, तथापि उनकी शरण में पहुँचने मात्र से, भक्त के शुभास्रव के परिणाम-स्वरूप, रक्षाकार्य स्वतः ही, बिना उनकी इच्छा के - स्वयमेव ही - बन जाते हैं।

श्लोक न. 18 व 19 के अर्द्धभ्रम: चित्रालंकार की रचना-

नचेनो न च रागादिचेष्टा वा यस्य पापगा ।
नो वामैः श्रीयतेऽपारा नयश्रीर्भुवि यस्य च ॥१८॥

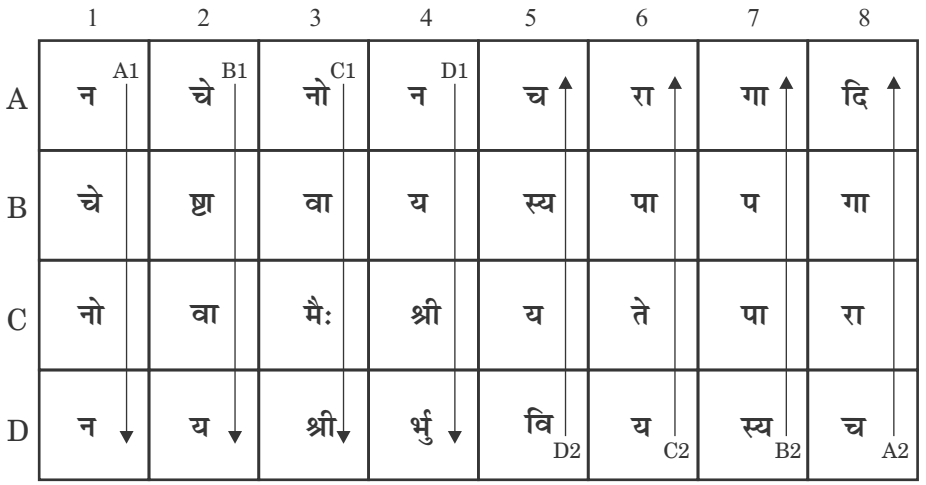

चित्र-१२ (अर्द्धभ्रम)

पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्रुचा ।
स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्य शंभव ॥१९॥

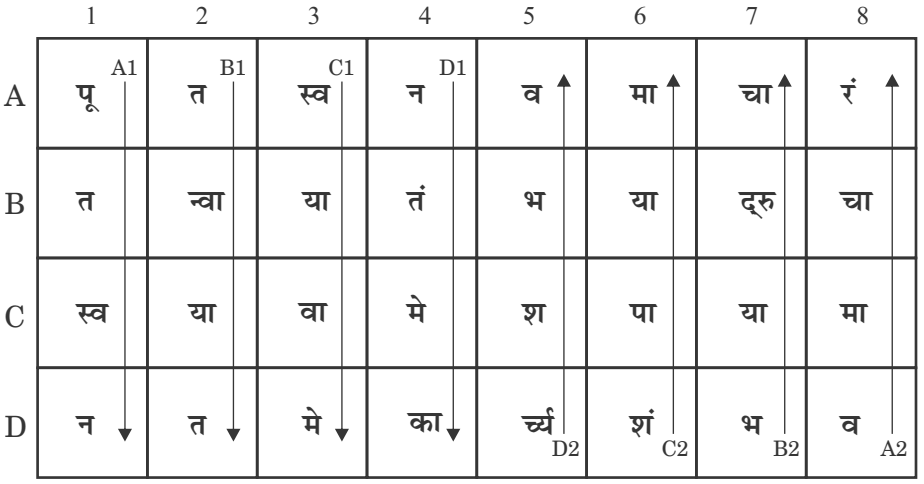

चित्र-१३ (अर्द्धभ्रम)

(अर्द्धभ्रमः)

धामस्वयममेयात्मा मतयादभ्रया श्रिया ।
स्वया जिन विधेया मे यदनन्तमविभ्रम ॥२०॥

अन्वयार्थ - [**अविभ्रम जिन!**] हे निर्मोही शंभवनाथ जिनेन्द्र! आप [**स्वया**] अपनी [**मतया**] अभिमत (स्वकीय) [**अदभ्रया**] विशाल [**श्रिया**] लक्ष्मी से [**अमेयात्मा**] अमेयात्मा-अनन्तज्ञानी हुए हो, [**धाम**] यह धाम अथवा स्थान [**यत्**] जो [**अनन्तं**] अनन्त, अन्त-रहित [**स्वयं**] प्रशंसनीय सुख से सहित है, [**मे**] मुझे [**विधेया**] प्रदान कीजिये।

इस श्लोक के अर्द्धभ्रमः चित्रालंकार की रचना-

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	धा A1	म B1	स्व C1	य D1	म ↑	मे ↑	या ↑	त्मा ↑
B	म	त	या	द	भ्र	या	श्रि	या
C	स्व	या	जि	न	वि	धे	या	मे
D	य ↓	द ↓	न ↓	न्त ↓	म D2	वि C2	भ्र B2	म A2

चित्र-१४ (अर्द्धभ्रम)

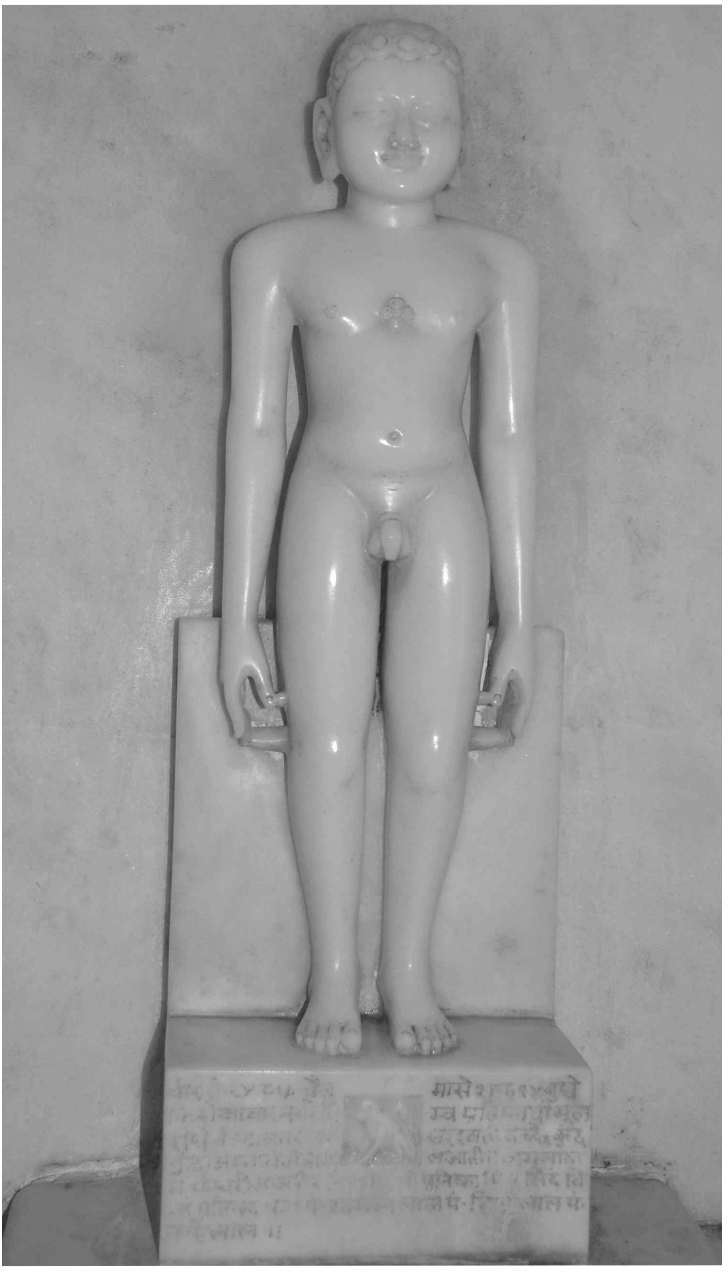

श्री अभिनन्दननाथ जिन

चिह्न - बन्दर

प्रथम गणधर - श्री वज्रचमर स्वामी

ॐ श्री अभिनन्दन-जिन-स्तुतिः ॐ

(अर्द्धभ्रमः)

अतमः स्वनतारक्षी तमोहा वन्दनेश्वरः ।
महाश्रीमानजो नेता स्वव मामभिनन्दन ॥२१॥

अन्वयार्थ - [**अतमः**] हे अज्ञान अन्धकार से रहित! [**अभिनन्दन**] हे अभिनन्दननाथ जिनेन्द्र! [**स्वनतारक्षी**] जो आपको नमस्कार करते हैं उनकी आप रक्षा करते हैं, [**तमोहा**] आप मोह से रहित हैं, [**वन्दनेश्वरः**] वन्दना के ईश्वर हैं अर्थात् सबके द्वारा वन्दनीय हैं, [**महाश्रीमान्**] महान् अनन्त-चतुष्टय और अष्ट-प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी से युक्त हैं, [**अजः**] जन्म-मरण से रहित हैं, [**नेता**] मोक्षमार्ग के उपदेष्टा भगवान् हैं; [**मां स्वव**] प्रभु मेरी रक्षा करो, मुझे संसारी दुःखों से बचाओ।

इस श्लोक के अर्द्धभ्रमः चित्रालंकार की रचना-

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	अ A1	त B1	मः C1	स्व D1	न ↑	ता ↑	र ↑	क्षी ↑
B	त	मो	हा	व	न्द	ने	श्व	रः
C	म	हा	श्री	मा	न	जो	ने	ता
D	स्व ↓	व ↓	मा ↓	म ↓	भि D2	न C2	न्द B2	न A2

चित्र-१५ (अर्द्धभ्रम)

(गर्भे महादिशि चैकाक्षरश्चतुरक्षरचक्रश्लोकः)

नन्द्यनन्तर्द्ध्यनन्तेन नन्तेनस्तेऽभिनन्दन ।
नन्दनर्द्धिरनम्रो न नम्रो नष्टोऽभिनन्द्य न ॥२२॥

अन्वयार्थ - [**नन्द्यनन्तर्द्ध्यनन्त!**] हे समृद्धि-सम्पन्न अनन्त, अविनाशी ऋद्धियों से युक्त! [**इन**] हे स्वामिन! [**अभिनन्दन**] हे अभिनन्दन भगवान्! [**ते**] आपको [**नन्ता**] नमस्कार करने वाला पुरुष आपके ही समान [**इनः**] स्वामी (परमात्मा, ईश्वर) बन जाता है। [**नन्दनर्द्धिः**] जो महान् ऋद्धिधारी हैं वे आपके प्रति [**अनम्रः**] अनम्र [**न**] नहीं हैं अर्थात् आपको अवश्य ही नमस्कार करते हैं, और [**अभिनन्द्य**] जो आपकी स्तुति कर [**नम्रः**] नम्र हुए हैं, [**नष्टः न**] वे कभी नष्ट नहीं होते, अवश्य ही अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त होते हैं।

जो सच्चे हृदय से भगवान् को नमस्कार करते हैं उनको अनेक महान् ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं और वे अन्त में कर्मों का क्षय कर अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। इसीलिये इस श्लोक में आचार्य समन्तभद्र कह रहे हैं कि हे अभिनन्दन भगवान्! आपको नमस्कार करने वाले पुरुष आपके ही समान संसार के ईश्वर हो जाते हैं।

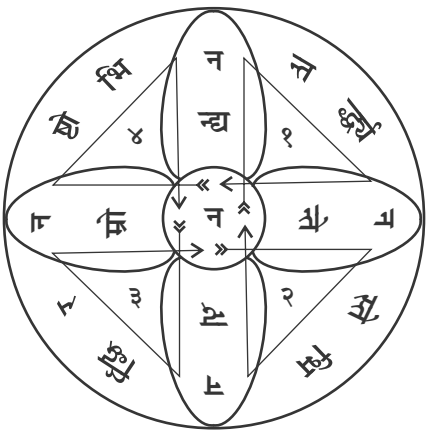

चित्र-१६ (गर्भे महादिशि चक्रवृत्त)

यह एकाक्षर और चतुराक्षर चक्र श्लोक है। इसकी रचना चित्र 16 में दर्शायी गयी है।

यह चित्र श्लोक के प्रथमाक्षर को गर्भ में रखकर बनाया हुआ चार आरों वाला वह चक्रवृत्त है जिसकी चार महादिशाओं में स्थित चारों आरों के अन्त में भी वही अक्षर पड़ता है। अन्त और उपान्त्य के अक्षर दो-दो बार पढ़े जाते हैं। श्लोक न. 23 और 24 भी ऐसे ही चक्रवृत्त हैं।

(गर्भे महादिशि चैकाक्षरश्चतुरक्षरचक्रश्लोकः)

नन्दनश्रीर्जिन त्वा न नत्वा नर्द्ध्या स्वनन्दि न ।
नन्दिनस्ते विनन्ता न नन्तानऽन्तोभिनन्दन ॥२३॥

अन्वयार्थ - [**अभिनन्दन जिन!**] हे अभिनन्दन जिनेन्द्र भगवान्! [**नन्दनश्रीः**] आप अनन्त-चतुष्टयरूप लक्ष्मी से सुशोभित हैं, [**नन्दिनः**] जो समृद्धिशाली पुरुष [**त्वा**] आपको [**ऋद्ध्या**] स्वकीय विभूति के साथ [**न नत्वा**] अतिशय-रूप से नमस्कार करके [**स्वनन्दि न न**] हर्षित न हो, ऐसा नहीं है (अर्थात् हर्षित होता ही है)। [**ते**] आपको [**विनन्ता**] विशिष्ट-रूप से नमस्कार करने वाला [**न नन्ता अन्तः न**] स्तुति करके अवश्य ही अनन्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण से रहित अविनाशी पद को प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोक की चित्र-रचना इस प्रकार से है-

चित्र-१७ (गर्भे महादिशि चक्रवृत्त)

(गर्भे महादिशि चैकाक्षरश्चतुरक्षरचक्रश्लोकः)

नन्दनं त्वाप्यनष्टो न नष्टोऽनत्वाभिनन्दन ।
नन्दनस्वर नत्वेन नत्वेनः स्यन्न नन्दनः ॥२४॥

अन्वयार्थ - [**नन्दनस्वर!**] हे मधुरभाषी! [**इन**] हे स्वामिन्! [**अभिनन्दन!**] हे अभिनन्दन भगवान्! [**नन्दनं**] आप केवलज्ञानादि गुणों की वृद्धि को प्राप्त हैं, [**त्वा**] आपको [**आप्य**] प्राप्त कर (आपकी चरण-शरण में आकर) कोई भी जीव [**नष्टः न**] नष्ट नहीं हुआ है - संसार-समुद्र में नहीं भटका है - अपितु [**अनत्वा**] आपको नमस्कार नहीं करके ही वह [**नष्टः**] नष्ट हुआ है - संसार में परिभ्रमण कर रहा है। [**नत्वा**] आपकी स्तुति करके वह [**नत्वा एनः**] पापों अथवा दुष्कर्मों का [**स्यन्**] विनाश करता हुआ [**न नन्दनः**] आनन्दित नहीं हुआ हो ऐसा [**न**] नहीं है, [**तु**] अपितु आनन्दित हुआ ही है। (वह अवश्य ही ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न हो जाता है।)

इस श्लोक की चित्र-रचना इस प्रकार से है-

नोट - अनुस्वार और विसर्ग की हीनाधिकता से चित्रालंकार भग्न नहीं होता है।

चित्र-१८ (गर्भे महादिशि चक्रवृत्त)

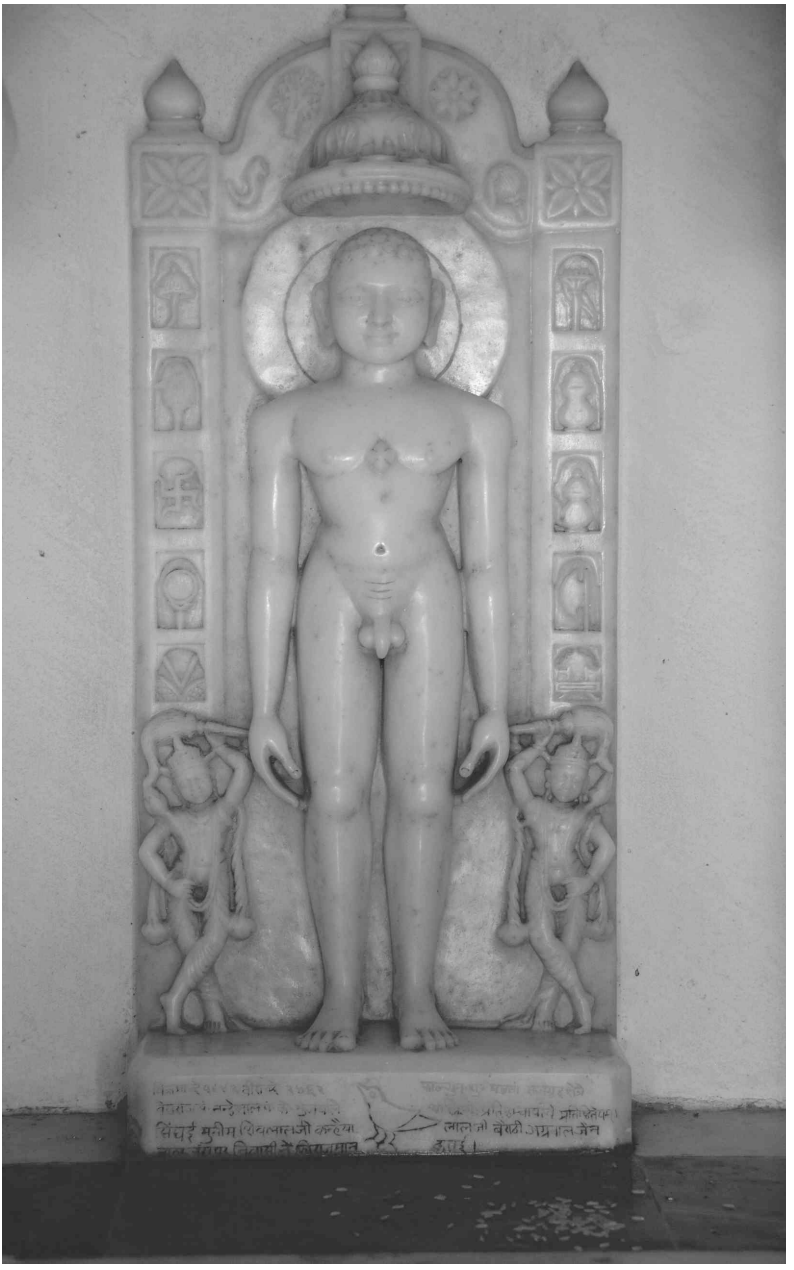

श्री सुमतिनाथ जिन

चिह्न – चकवा

प्रथम गणधर – श्री वज्र स्वामी

ॐ श्री सुमति-जिन-स्तुतिः ॐ

(समुद्गकयमकः)

देहिनो जयिनः श्रेयः सदाऽतः सुमते! हितः ।
देहि नोजयिनः श्रेयः स दातः सुमतेहितः ॥२५॥

अन्वयार्थ - [**सुमते!**] हे सुमतिनाथ भगवान्! [**जयिनः**] कर्म-शत्रुओं को जीतने की इच्छा करने वाले [**देहिनः**] प्राणियों के द्वारा [**श्रेयः**] आप उपासना करने योग्य हो, [**अतः**] क्योंकि [**सदा हितः**] आप उनका सदा हित (कल्याण) करने वाले हो। [**सुमतेहितः**] आपके द्वारा प्ररूपित आगम और आपकी चेष्टाएँ उत्तम हैं, [**अजः**] आप जन्म-मरण के दुःखों से रहित हैं; [**इनः**] सबके स्वामी हैं, [**दातः**] हे दानशील स्वामिन्! [**नः**] हमारे लिये [**सः**] वह [**श्रेयः**] कल्याण-लक्ष्मी [**देहि**] प्रदान करो।

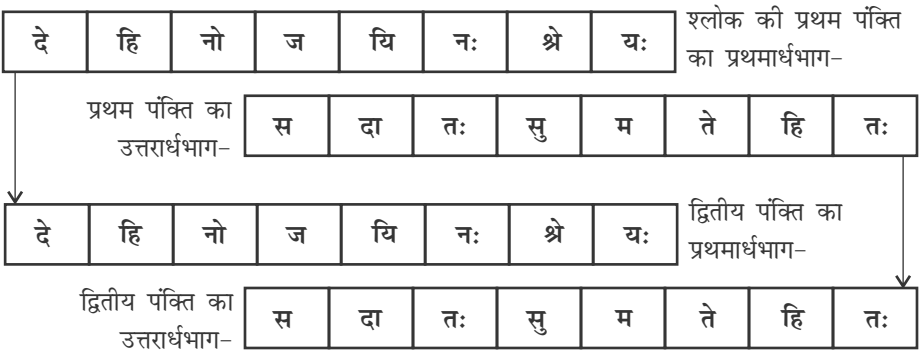

चित्र-१९ (समुद्गकयमक)

यह समुद्गकयमक अलंकार है। जैसे अक्षर पूर्वार्द्ध और पश्चार्द्ध में है, वैसे ही तृतीय और चतुर्थ पाद में है। समुद्गक के समान होने से यह समुद्गकयमक अलंकार है। (देखें, श्लोक न. 5 के अन्तर्गत यमक अलंकार की व्याख्या।)

(चक्रश्लोकः)

वरगौरतनुं देव वंदे नु त्वाक्षयार्ज्जव ।
वर्जयार्त्तिं त्वामार्याव वर्यामानोरुगौरव ॥२६॥

अन्वयार्थ - [**अक्षयार्ज्जव!**] हे अविनाशी आर्जव-धर्म के धारक! [**त्वाम् आर्य!**] हे आर्य! [**वर्य!**] हे सर्वश्रेष्ठ! [**अमानोरुगौरव!**] अप्रतिम, विशाल, गौरवशाली! [**देव!**] हे सुमतिनाथ भगवान्! [**नु वरगौरतनुं त्वा वंदे**] जिनका शरीर तपाये हुए सुवर्ण के समान अत्यन्त गौरवर्ण है ऐसे आपके लिये मैं अत्यधिक भक्ति से नमस्कार करता हूँ। (नः = इस नकार का अध्याहार करना चाहिये। अतः मेरी) [**अर्त्तिं**] शारीरिक पीड़ा वा जन्म-मरण की व्यथा का [**वर्जय**] निराकरण करो, [**अव**] (संसार के दुःखों से) मेरी रक्षा करो।

यद्यपि इस श्लोक की रचना श्लोक न. 22 के समान है तथापि 22वें श्लोक में गर्भ और महादिशाओं के अन्तिम अक्षर एक समान थे, परन्तु इसमें महादिशाओं के अक्षर भिन्न हैं।

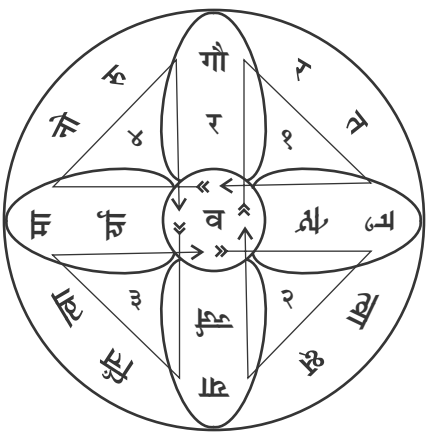

चित्र-२० (चक्रश्लोक)

यह श्लोक के प्रथमाक्षर को गर्भ में रखकर बनाया हुआ चार आरों वाला चक्रवृत्त है। इसमें प्रथमादि कोई-कोई अक्षर चक्र में एक बार लिखे जाकर भी बार-बार पढ़ने में आते हैं। श्लोक न. 53 व 54 भी ऐसे ही चक्रवृत्त हैं।

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं
स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति
सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥ (५-१-२१)

आप प्रत्यक्ष ज्ञानी हो तथा शोभनीय ज्ञान के स्वामी होने से 'सुमति' आपका यह नाम सार्थक है; आपने सुन्दर गाढ़ युक्तियों से सिद्ध किया गया जीवादि तत्त्व का स्वरूप अंगीकार किया है। आपके अनेकान्त मत के सिवाय दूसरे एकान्त मतों में सर्व प्रकार की क्रिया तथा सर्व कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों के स्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती।

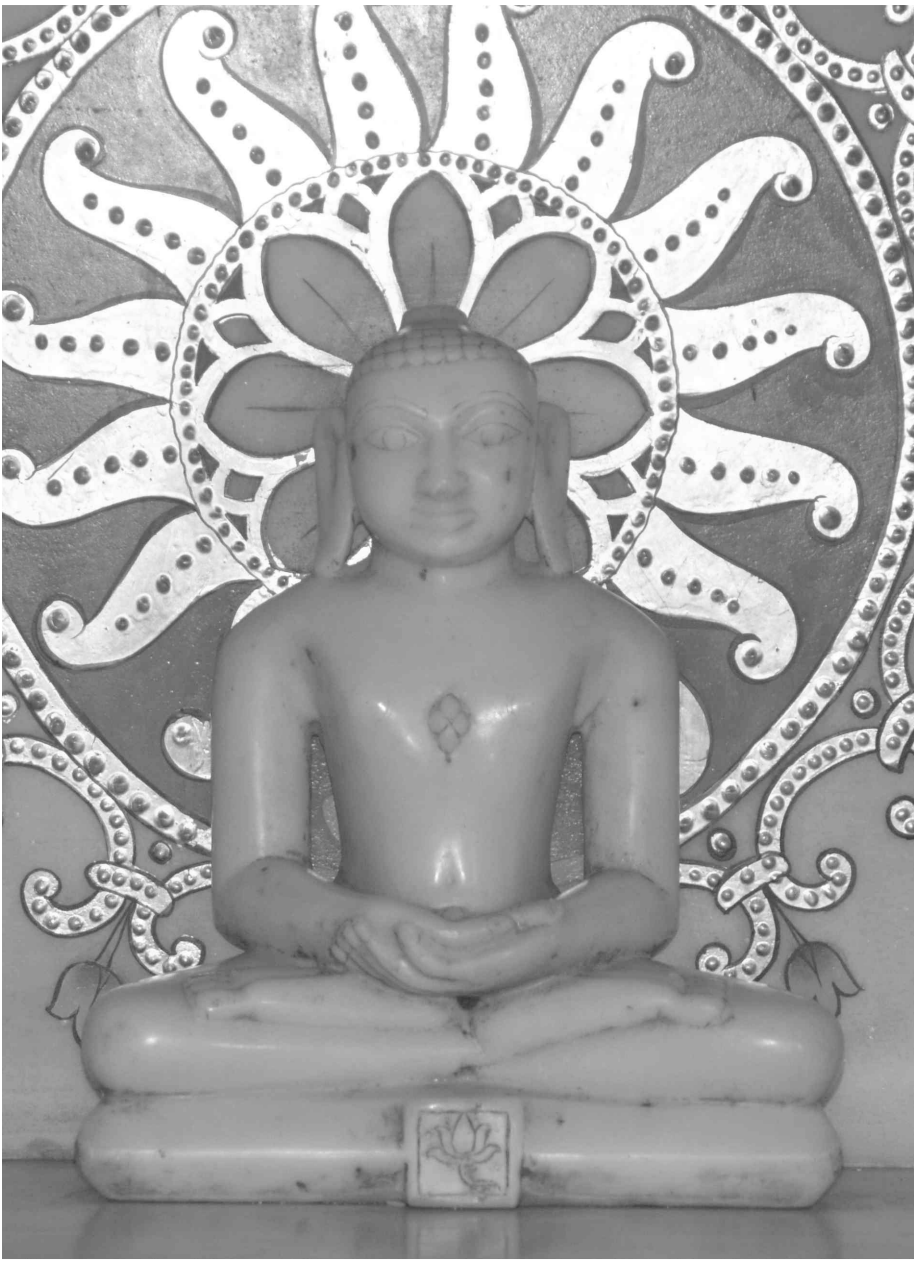

श्री पद्मप्रभ जिन

चिह्न - लाल कमल

प्रथम गणधर - श्री चमर स्वामी

ॐ श्री पद्मप्रभ-जिन-स्तुतिः ॐ

(अर्द्धभ्रमः)

अपापापदमेयश्रीपादपद्म प्रभोऽर्दय ।
पापमप्रतिमाभो मे पद्मप्रभ मतिप्रद ॥२७॥

अन्वयार्थ - [**प्रभो!**] हे प्रभो! [**अपापापदमेयश्रीपादपद्म**] आपके चरण-कमल पूर्व-संचित पापकर्म से रहित हैं, सांसारिक आधिव्याधिरूप आपत्तियों से शून्य हैं और अपरिमित लक्ष्मी के - शोभा के - आधार हैं। [**अप्रतिमाभः**] आप स्वयं भी अनुपम आभा (तेज) से सहित हैं, अर्थात् आपकी आभा से कोटि सूर्य का तेज लुप्त हो जाता है। [**मतिप्रद**] हे भव्यजीवों को सम्यग्ज्ञान के प्रदाता [**पद्मप्रभ**] पद्मप्रभ जिनेन्द्र! आप [**मे**] मेरे भी [**पापं**] पापकर्म [**अर्दय**] नष्ट करो।

इस श्लोक के अर्द्धभ्रमः चित्रालंकार की रचना-

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	अ A1	पा B1	पा C1	प D1	द ↑	मे ↑	य ↑	श्री ↑
B	पा ↓	द ↓	प ↓	द्म ↓	प्र ↓	भो ↓	र्द ↓	य ↓
C	पा ↓	प ↓	म ↓	प्र ↓	ति ↓	मा ↓	भो ↓	मे ↓
D	प ↓	द्म ↓	प्र ↓	भ ↓	म D2	ति C2	प्र B2	द A2

चित्र-२१ (अर्द्धभ्रम)

(गतप्रत्यागतपादयमकश्लोकः)

वंदे चारुरुचां देव भो वियाततया विभो ।
त्वामजेय यजे मत्वा तमितांतं तताामित ॥२८॥

अन्वयार्थ - [**चारुरुचां**] शोभनीय कान्ति, ज्ञान एवं भक्ति से सम्पन्न भव्य प्राणियों के [**देव!**] स्वामी! [**अजेय!**] अन्तरंग और बहिरंग शत्रुओं के द्वारा अजेय [**तताामित**] अनन्त पदार्थों का निरूपण करने वाले [**भो विभो!**] हे स्वामिन् पद्मप्रभ जिनेन्द्र! [**त्वां**] आपको [**तमितांतं**] अन्तरहित, अविनाशी [**मत्वा**] मानकर, [**वियाततया**] मैं निर्लज्ज होकर [**वंदे**] (आपको) नमस्कार करता हूँ, [**यजे**] (आपकी) पूजा करता हूँ।

यहाँ आचार्य ने यह भाव प्रकट किया है कि जब इन्द्र और गणधर भी आपके योग्य आपकी स्तुति करने के लिये समर्थ नहीं हैं तब आपके प्रति मेरा नमस्कार और पूजा करना मेरी निर्लज्जता या धृष्टता ही है।

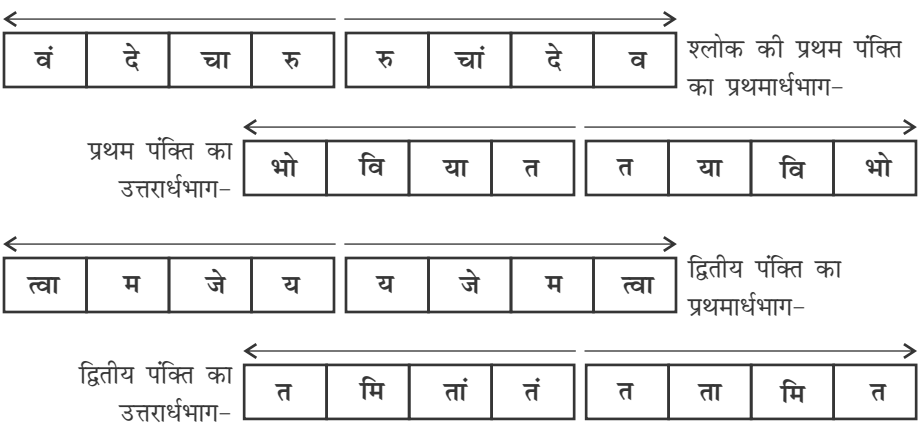

चित्र-२२ (गतप्रत्यागतभाग)

यह गतप्रत्यागतपाद-यमक अलंकार है। इसमें प्रथम पादस्थ अक्षर चतुष्टय को क्रम से लिखकर विपरीत पढ़ने से प्रथम चरण के अक्षर बन जाते हैं। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ चरण को जानना चाहिये।

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः
पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां
पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥ (६-१-२६)

कमल के समान प्रभाधारी ऐसे श्री पद्मप्रभदेव कमल-पत्र के समान लेश्या के धारी थे। उनकी सुन्दर मूर्ति (अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप आत्मा एवं समस्त उत्तम लक्षणों से युक्त शरीर) लक्ष्मी के द्वारा आलिंगित थी। ऐसे आप पद्मप्रभ भगवान् भव्यजीव-रूप कमलों के विकास के लिए उसी प्रकार सुशोभित हुए थे जिस प्रकार सूर्य कमल-समूह के विकास के लिए सुशोभित होता है।

श्री सुपार्श्वनाथ जिन

चिह्न – स्वस्तिक

प्रथम गणधर – श्री बलदत्त स्वामी

ॐ श्री सुपार्श्व-जिन-स्तुतिः ॐ

(मुरजबन्धः)

स्तुवाने कोपने चैव समानो यन्न पावकः ।
भवानेकोपि नेतेव त्वमाश्रेयः सुपार्श्वकः ॥२९॥

अन्वयार्थ - [**सुपार्श्वकः**] हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! [**भवान्**] आप [**स्तुवाने**] स्तुति करने वाले [**च**] और [**कोपने**] कोप (निन्दा) करने वाले [**समानः**] दोनों के विषय में समान [**च**] ही हैं, [**यत् न पावकः**] क्योंकि आप अग्नि के समान नहीं हैं अपितु अति-निर्मल - राग-द्वेष से रहित - हैं। [**त्वं**] आप [**एकः**] असहाय (अथवा प्रधान) होते हुए भी, [**नेता**] नेता के [**इव**] समान [**आश्रेयः**] आश्रय करने योग्य हैं।

जिस प्रकार एक नेता अनेक मानवों का मार्ग-प्रदर्शन कर उनको इष्ट स्थान पर पहुँचा देता है, उसी प्रकार आप भी अनेक भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का स्वरूप बतलाकर उन्हें इष्ट (मोक्ष) स्थान पर पहुँचाने वाले हैं। अतः आप ही स्वकल्याण-इच्छुक के द्वारा पूजनीय, वन्दनीय और सेवनीय हैं।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

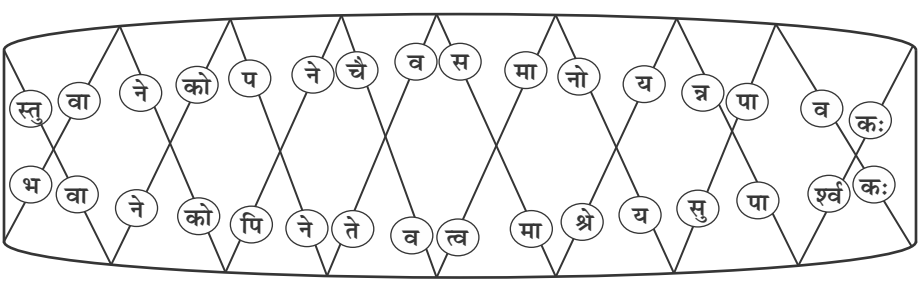

चित्र-२३ (मुरजबन्ध)

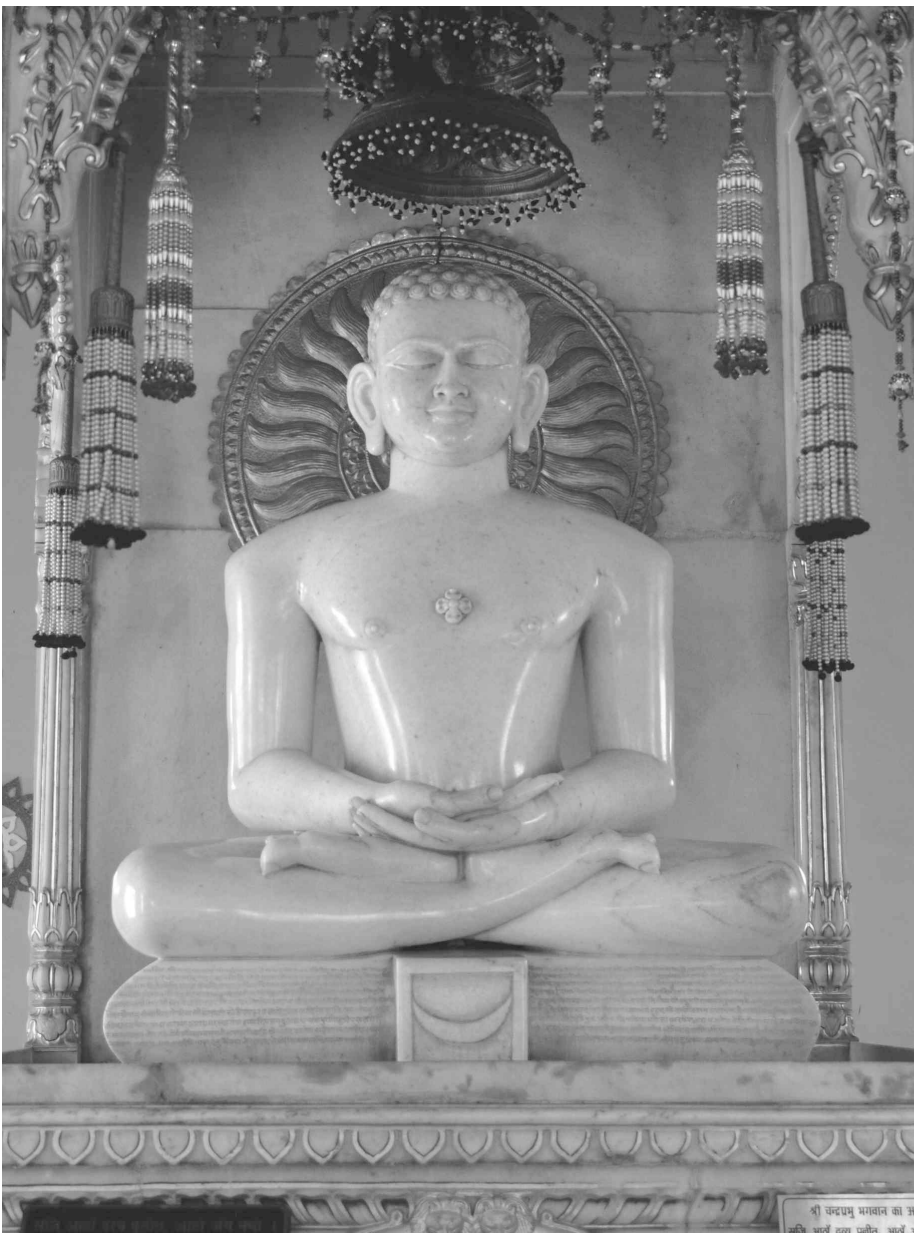

श्री चन्द्रप्रभ जिन

चिह्न – चन्द्रमा

प्रथम गणधर – श्री वैदर्भ स्वामी

ॐ श्री चन्द्रप्रभ-जिन-स्तुतिः ॐ

(मुरजबन्धः)

चन्द्रप्रभो दयोऽजेयो विचित्रेऽभात् कुमण्डले ।
रुन्द्रशोभोऽक्षयोमेयो रुचिरे भानुमण्डले ॥३०॥

अन्वयार्थ - [**चन्द्रप्रभः**] हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र! आप चन्द्रमा जैसी प्रभा से सम्पन्न हैं परन्तु चन्द्रमा और आप में ये व्यतिरेक विशेषतायें हैं- [**दयः**] आप सबके रक्षक और सुख देने वाले हैं परन्तु चन्द्रमा दिनविकासी कमल और चकवा-चकवी को दुःख देने वाला है, [**अजेयः**] आप अजेय हैं - किसी के द्वारा जीते नहीं जा सकते हैं - परन्तु चन्द्रमा राहु के द्वारा जीत लिया जाता है, [**रुन्द्रशोभः**] आप अतिविशाल शोभा के धारक हैं - लोक-अलोक सब को जानते हैं, आपके ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं - परन्तु चन्द्रमा केवल पृथिवी पर ही प्रकाशित होता है, [**अक्षयः**] आप क्षयरहित हैं परन्तु चन्द्रमा क्षयसहित है - कृष्णपक्ष में क्रमशः क्षीण होता जाता है, [**अमेयः**] आप अमेय हैं - अपरिमित हैं अर्थात् अनन्त-गुणी होने के कारण आपके गुणों का कोई परिमाण नहीं है - परन्तु चन्द्रमा के गुण मेय (परिमित) हैं, वह सोलह कलाओं से युक्त है तथा अनुमान और प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है, [**विचित्रे कुमण्डले रुचिरे भानुमण्डले अभात्**] आप भानुमण्डल (सूर्य) के देदीप्यमान रहते हुए भी नाना प्रकार से शोभायमान रहते हैं परन्तु चन्द्रमा पृथिवीमण्डल पर सूर्य का उदय रहने पर शोभाविहीन हो जाता है, फीका पड़ जाता है।

इस श्लोक में 'चन्द्रप्रभ', इस श्लिष्ट विशेषण से, पूर्व में तो अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और चन्द्रमा में सादृश्य बतलाया है, परन्तु फिर उन्हीं विशेषणों के अर्थ का परिवर्तन करके चन्द्रमा की अपेक्षा अष्टम तीर्थंकर में वैशिष्ट्य सिद्ध किया गया है। अर्थात् चन्द्र की प्रभा के समान होते हुए भी चन्द्रप्रभ भगवान् चन्द्रमा से विलक्षण हैं, ऐसा कथन किया गया है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

चन्द्रप्रभो दयोऽजेयो विचित्रेऽभात् कुमण्डले ।
रुन्द्रशोभोऽक्षयोमेयो रुचिरे भानुमण्डले ॥३०॥

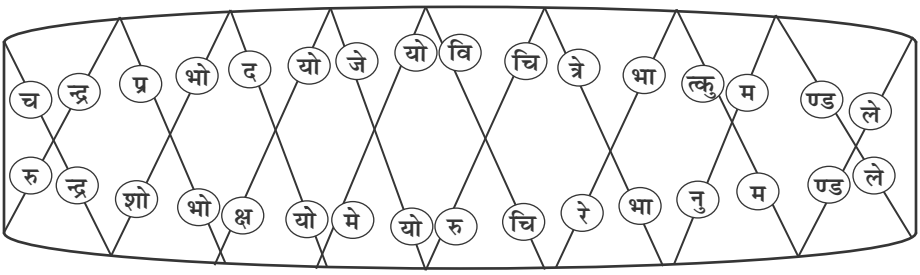

चित्र-२४ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

प्रकाशयन् खमुद्भूतस्त्वमुद्घांककलालयः ।
विकासयन् समुद्भूतः कुमुदं कमलाप्रियः ॥३१॥

अन्वयार्थ - हे चन्द्रप्रभ भगवान्! **[त्वं]** आप **[उद्घांककलालयः]** महान् चिह्न और कलाओं के आलय (स्थान) हैं - जैसे चन्द्रमा मनोहर हरिण के चिह्न से युक्त है, उसी प्रकार आप भी मनोज्ञ अर्धचन्द्र के चिह्न से युक्त हैं; जैसे चन्द्रमा सोलह कलाओं का आलय (स्थान) है, उसी प्रकार आप भी केवलज्ञानादि अनेक कलाओं से युक्त हैं। आप **[खं]** आकाश (लोकाकाश और अलोकाकाश) को **[प्रकाशयन्]** (केवलज्ञान के द्वारा) प्रकाशित करते हुए **[उद्भूतः]** प्रकट हुए हैं। **[कमलाप्रियः]** जैसे चन्द्रमा 'कमलाप्रिय' (कमल+अप्रिय) है अर्थात् दिन-विकासी कमलों को अप्रिय है, उनको निमीलित कर देता है, वैसे ही आप भी 'कमलाप्रिय' हो अर्थात् केवलज्ञानादि लक्ष्मी को प्रिय हो। **[कुमुदं विकासयन् समुद्भूतः]** जैसे चन्द्रमा कुमुदों को (रात्रि-विकासी नीलकमलों को) विकसित करता हुआ उदित होता है, उसी प्रकार आप भी 'कु' (पृथिवीगत) समस्त जीवों के 'मुद' (हर्ष, आनन्द) को वृद्धिंगत करते हुए उदित (उत्पन्न) हुए हो।

जिस प्रकार से इस श्लोक में विशेषणों से अष्टम तीर्थंकर और चन्द्रमा में सादृश्य सिद्ध किया गया है (यह श्लेषालंकार[1] है), उसी प्रकार से इन दोनों में वैसादृश्य-व्यतिरेक भी सिद्ध होता है। इस पक्ष में श्लोक का अर्थ इस प्रकार से होगा-

1. जहाँ एक शब्द के प्रकरण में अपेक्षित अनेक अर्थ हों वहाँ शब्दश्लेष अलंकार होता है। शब्दश्लेष में दो बातें आवश्यक हैं- 1) एक शब्द के एक से अधिक अर्थ हों, 2) एक से अधिक अर्थ प्रकरण में अपेक्षित हों।
जहाँ स्वभावतः एकार्थवाची शब्दों के द्वारा अनेक अर्थों का कथन किया जाए वहाँ अर्थश्लेष अलंकार होता है। अर्थश्लेष में एक अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग होता है। दो अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग में शब्दश्लेष होता है। शब्दश्लेष में अलंकार का चमत्कार शब्दों पर आश्रित होता है पर अर्थश्लेष में चमत्कार अर्थ में रहता है। (देखें, **'अलङ्कार प्रवेशिका'**, पृ. 61, 131, 132)

हे चन्द्रप्रभ भगवान्! चन्द्रमा 'खं'-आकाश के थोड़े से भाग को ही प्रकाशित करता है जबकि आप लोक-अलोक सारे आकाश को प्रकाशित करते हैं, जानते हैं। चन्द्रमा केवल रात्रि में उदय होता है परन्तु आप सर्वकाल में उदित ही रहते हैं, कभी अस्तमित नहीं होते। चन्द्रमा का चिह्न कृष्ण है - कलंकरूप है - जिससे वह कलंकी कहलाने लगा है, परन्तु आपका चिह्न अर्धचन्द्र अति-मनोहर है अथवा आपके शरीर में जो 1008 सामुद्रिक चिह्न हैं वे भी अत्यन्त सुन्दर हैं। चन्द्रमा 'कला-लय' - कलाओं का लय यानि विनाश - वाला है अर्थात् चन्द्रमा की कलाओं का कृष्णपक्ष में एक-एक कर नाश होता है, परन्तु आप केवलज्ञानादि अनन्त कलाओं (गुणों) के आलय (घर) हैं। चन्द्रमा 'कुमुद' - रात्रिविकासी कमल को वृद्धिंगत करता है अथवा पक्ष में कुत्सित-वैषयिक मुद् (हर्ष) को वृद्धिंगत करता है अर्थात् सांसारिक प्राणियों के काम को उद्दीप्त करता है, परन्तु आप 'कु' (पृथिवीगत सभी जीवधारियों) के 'मुद्' (आनन्द) को वृद्धिंगत करते हैं अथवा आत्मा सम्बन्धी उत्कृष्ट आत्मीय आनन्द को वृद्धिंगत करते हैं। चन्द्रमा 'कमलाप्रिय' - कमल-अप्रिय अथवा दिनविकासी कमलों को अप्रिय है, उनका इष्ट नहीं है, परन्तु आप 'कमलाप्रिय' अर्थात् कमला - अनन्त-चतुष्टयरूप लक्ष्मी - के प्रिय हैं, स्वामी हैं। अतः आप अनोखे, विलक्षण चन्द्रमा हैं।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

प्रकाशयन् खमुद्भूतस्त्वमुद्घांककलालयः ।
विकासयन् समुद्भूतः कुमुदं कमलाप्रियः ॥३१॥

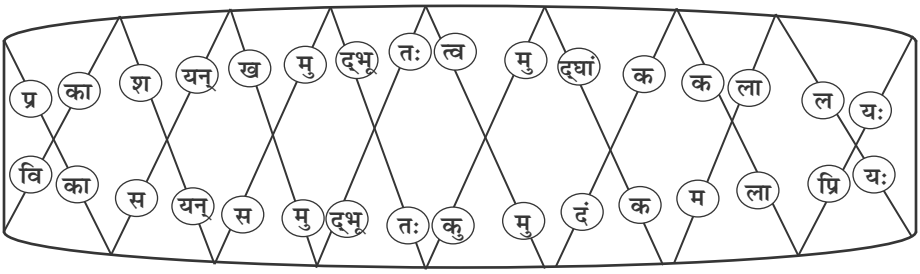

चित्र-२५ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

धाम त्विषां तिरोधानविकलो विमलोक्षयः ।
त्वमदोषाकरोस्तोनः सकलो विपुलोदयः ॥३२॥

अन्वयार्थ - हे प्रभो! आप चन्द्रमा के समान प्रभावान् अथवा शोभायमान अवश्य हैं परन्तु आपमें और उसमें भारी भेद हैं। [**त्वं**] आप [**त्विषां**] तेज के वा केवलज्ञान के [**धाम**] स्थान, [**तिरोधानविकलः**] तिरोधान (आवरण) से रहित, [**विमलः**] कर्ममल कलंक से रहित, [**अक्षयः**] विनाशरहित, [**अदोषाकरः**] गुणों की खान, [**अस्तोनः**] ऊनता (अपूर्णता) से रहित अर्थात् असर्वज्ञरूप ताराओं का आपने नाश कर दिया है, [**सकलः**] सम्पूर्ण, परिपूर्ण केवलज्ञान सहित, [**विपुलोदयः**] विपुल उदय से युक्त अर्थात् आप एक स्थान में रहकर भी सारे जगत् को प्रकाशित करते हैं।

चन्द्रमा [**त्विषां**] तेज का [**अधाम**] स्थान नहीं है, [**अतिरोधानविकलः**] तिरोधान (आवरण) से रहित नहीं है, [**अविमलः**] निर्मलता रहित है, [**क्षयः**] क्षयसहित है, प्रतिदिन क्षीण होता है, [**दोषाकरः**] अनेक दोषों की खान है अर्थात् रात्रि को करने वाला है, [**स्तोनः**] न्यूनता का नाश करने वाला नहीं है, [**असकलः**] असम्पूर्ण है, [**अविपुलोदयः**] विपुल उदय से रहित है।

आप में और चन्द्रमा में इन भेदों को इस प्रकार से विस्तारित किया जा सकता है-
आप केवलज्ञान और कोटि सूर्य-चन्द्र के तेज को तिरस्कार करने वाली कान्ति से युक्त हैं, जबकि चन्द्रमा कान्तिहीन है।
आप निरावरण ज्ञान के धारी हैं, जबकि चन्द्रमा बादल आदि से आच्छादित हो जाता है अतः सावरण है।
आप कर्मकलंक से रहित होने के कारण मलरहित हैं, जबकि चन्द्रमा कलंकसहित होने से समल है।
आप अक्षय, अविनाशी हैं, आपके केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का नाश कभी नहीं होता है, जबकि चन्द्रमा कृष्णपक्ष में प्रतिदिन क्षीण होता है, एक-एक कला से हीन होता है।

आप दोषों की खान नहीं होने से अदोषाकर हैं - क्षुधा, तृषा, निद्रा, चिंता आदि अठारह दोषों से तथा काम, क्रोधादि विभाव-भावों से रहित हैं, जबकि चन्द्रमा दोषा (रात्रि) का करने वाला होने से दोषाकर है।

आपने असर्वज्ञरूपी ताराओं को अस्त कर दिया है अर्थात् आपके समक्ष असर्वज्ञ हरिहरादि प्रभावशून्य हो जाते हैं अतः आप अस्तोन हैं, परन्तु चन्द्रमा ताराओं को प्रभावहीन नहीं कर सकता अतः वह अनस्तोन (स्तोन) है।

आप सम्पूर्ण हैं अथवा आप केवलज्ञानादि गुणों से युक्त हैं, परन्तु चन्द्रमा विकल है, अपूर्ण है, परिपूर्ण कलाओं से रहित है। (चन्द्रमा का सोलहवाँ भाग कला कहलाता है; पूर्णिमा के अलावा वह कभी परिपूर्ण कला वाला नहीं होता है।)

आप विपुलोदय हैं। आपका उदय महान् है अतः आप एक स्थान में स्थिर होकर भी तीनों लोकों और तीनों कालों में स्थित छहों द्रव्यों के अनन्त गुणों एवं अनन्त पर्यायों को एक साथ जानते हैं, प्रकाशित करते हैं, परन्तु चन्द्रमा का उदय सीमित है, वह सीमित पदार्थों को ही प्रकाशित करता है अतः अविपुलोदय है।

इस प्रकार, हे भगवन्! आप अद्वितीय चन्द्रमा शोभित होते हो। इसमें 'अभात्' - शोभित होते हो - क्रिया का सम्बन्ध श्लोक न. 30 से करना होता है।

यह श्लेषमूलक व्यतिरेकालंकार[1] है। मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

धाम त्विषां तिरोधानविकलो विमलोक्षयः ।
त्वमदोषाकरोस्तोनः सकलो विपुलोदयः ॥३२॥

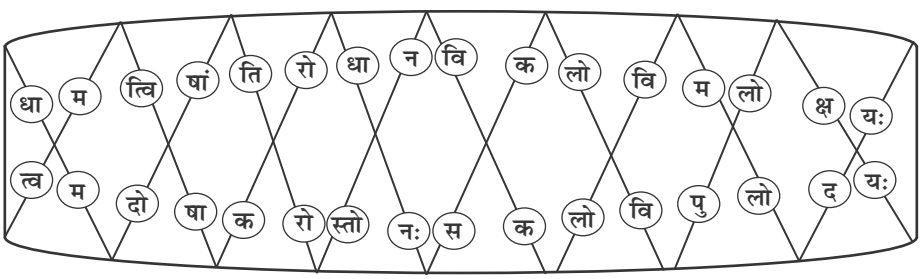

चित्र-२६ (मुरजबन्ध)

1. जहाँ उपमान और उपमेय का भेद-प्रधान सादृश्य प्रतीत होता हो वहाँ व्यतिरेकालंकार होता है। इसके दो भेद हैं- 1) उपमान से उपमेय की अल्पता, 2) उपमान से उपमेय की अधिकता। (देखें, **'अलंकार चिन्तामणि'**, पृ. 190)

(मुरजबन्धः)

यत्तु खेदकरं ध्वान्तं सहस्त्रगुरपारयन् ।
भेत्तुं तदन्तरत्यन्तं सहसे गुरु पारयन् ॥३३॥

अन्वयार्थ - [**यत्**] जिस [**खेदकरं**] खेद करने वाले, अत्यन्त दुःख देने वाले, [**अत्यन्तं**] अतिसघन, [**अन्तः**] आन्तरिक [**ध्वान्तं**] मोहरूपी अन्धकार को [**भेत्तुं**] भेदने (नाश करने) के लिए [**सहस्त्रगुः**] सहस्त्र किरणों वाला सूर्य [**तु**] भी [**अपारयन्**] समर्थ नहीं है, [**तत्**] उस [**गुरु**] महान् (आन्तरिक मोहरूपी अन्धकार को) हे चन्द्रप्रभ भगवान्! आप [**पारयन्**] समर्थ होते हुए [**सहसे**] (जड़-मूल से) नष्ट कर देते हैं।

आचार्य कहते हैं- हे चन्द्रप्रभ भगवान्! सूर्य तो केवल अपने विषयक्षेत्र में बाह्य अन्धकार को दूर कर सकता है, परन्तु आपने तो आन्तरिक अज्ञान-अन्धकार को नाश कर लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया है। आपका तेज कोटि सूर्यों से भी अधिक है। केवल आप ही अपने वचनों के द्वारा भव्य जीवों के मोहरूपी अज्ञान-अन्धकार को समूल नष्ट करने में समर्थ हैं।

इस श्लोक में चन्द्रप्रभ भगवान् की सूर्य से विशिष्टता दिखलाई गई है, अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार है। मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

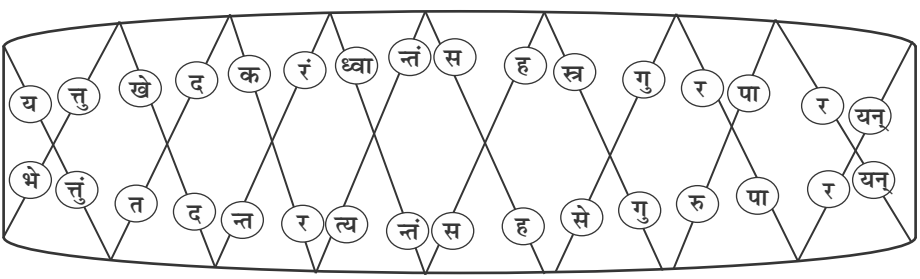

चित्र-२७ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

खलोलूकस्य गोव्रातस्तमस्ताप्यति भास्वतः ।
कालोविकलगोघातः समयोप्यस्य भास्वतः ॥३४॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! [**भास्वतः**] सूर्य की [**गोव्रातः**] किरणों का समूह [**खलोलूकस्य**] दुष्ट उल्लू को [**तमः**] अन्धकार करने वाला (उल्लू की आँखों को अन्धकारित करने वाला) [**अपि**] और [**अति**] अत्यन्त [**तापि**] ताप देने वाला है, तथा [**अस्य**] इस [**भास्वतः**] सूर्य का [**कालः**] काल [**विकलगः**] घटिका, वर्ष आदि से विकल है और [**समयः**] ऋतु वा दिन [**घातः**] प्रतिहत - मेघादि के द्वारा घात-सहित - है।

परन्तु [**भास्वतः**] हे देदीप्यमान चन्द्रप्रभ भगवान्! आपके [**गोव्रातः**] वचनों का समूह [**खलोलूकस्य**] खल (दुष्ट) मिथ्यादृष्टिरूपी उल्लू को [**तमः**] अन्धकाररूप है, [**ताप्यति**] संताप देने वाला है परन्तु भव्य जीवों के अज्ञान-अन्धकार को दूर करता है और उन्हें आनन्ददायक है। [**अपि**] और [**अस्य**] इस [**भास्वतः**] निरन्तर प्रकाशित रहने वाले चन्द्रप्रभ स्वामी का [**कालः**] काल [**अविकलगः**] अव्यवहित है (दिन-रात का भेद नहीं है) और [**समयः**] सिद्धान्त-दर्शन [**अघातः**] घात-रहित है, आपके सिद्धान्त का कोई भी प्रतिवादी खण्डन नहीं कर सकते।

इस श्लोक में आचार्य कहते हैं कि हे चन्द्रप्रभ भगवान्! आप सूर्य से भी अधिक शोभायमान हैं। आपका समय (स्याद्वाद-सिद्धान्त) घात-रहित है। वह मिथ्यादृष्टि वादी-प्रतिवादियों के द्वारा खण्डन-रहित है, उनके द्वारा अनुल्लंघ्य है, अजेय है।

'अविकल' और 'विकल' तथा 'घात' और 'अघात' - ये दो पदच्छेद करके सूर्य और प्रभु के प्रति व्यतिरेक किया गया है।

इसी प्रकार 'गो' और 'समय' के अलग-अलग अर्थ लेकर भी सूर्य के साथ भगवान् का व्यतिरेक बताया गया है। 'गो' के दो अर्थ हैं - एक किरण और दूसरा वचन। 'समय' के दो अर्थ हैं - एक काल अर्थात् दिन-रात का परिवर्तन और दूसरा सिद्धान्त या दर्शन। यह श्लेष इस श्लोक की शोभा बढ़ा रहा है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

खलोलूकस्य गोव्रातस्तमस्ताप्यति भास्वतः ।
कालोविकलगोघातः समयोप्यस्य भास्वतः ॥३४॥

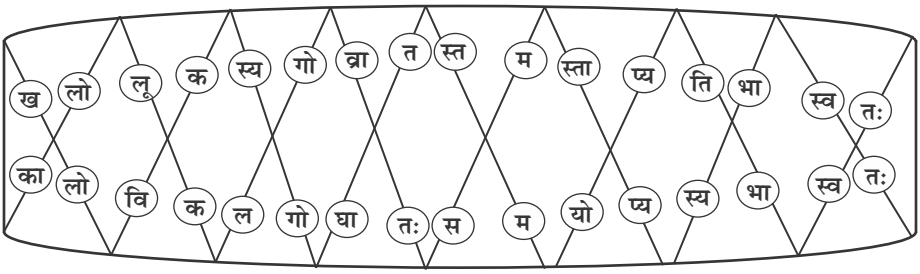

चित्र-२८ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते ।
एकप्रियसहायाय नम एकस्वभाव ते ॥३५॥

अन्वयार्थ - **[एकस्वभाव]** निरन्तर एक रूप रहने वाले चन्द्रप्रभ भगवान्! **[लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते]** ऊर्ध्व-मध्य-पाताल तीन लोकरूपी विशाल - अपरिमित - कमलवन को विकसित करने के लिए सूर्य, **[एकप्रियसहायाय]** अद्वितीय प्रिय (इष्ट) बन्धु! **[ते]** आपके लिए **[नमः]** नमस्कार हो।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे चन्द्रप्रभ भगवान्! आप सदा एक-स्वरूप रहने वाले हैं। संसार के अन्य महापुरुष जो साधारण प्राणियों की अपेक्षा उच्च पद को प्राप्त होते हैं वे पद सत्कर्मोदयजनित होने से कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं और उनके परिणाम निरन्तर परिवर्तन करते रहते हैं। अतः उन्हें 'एक-स्वरूप' नहीं कहा जा सकता। परन्तु आपने जिस पद को प्राप्त किया है वह कर्मक्षयजनित होने से कालान्तर में कभी नाश को प्राप्त नहीं होता है अतः आपको 'एक-स्वरूप' या 'एक-स्वभाव' कहा जाता है। आप सारे जगत् की सहायता व दुःख को दूर करने के लिए अद्वितीय इष्ट, परम-मित्र हैं, बन्धु हैं। आपको हमारा नमस्कार हो।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

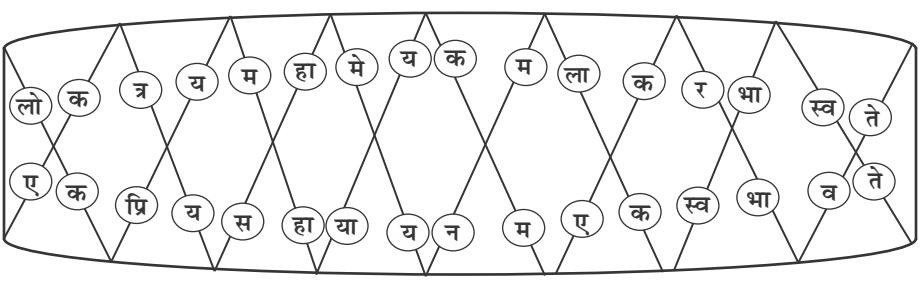

चित्र-२९ (मुरजबन्ध)

(अर्द्धभ्रमगूढद्वितीयपादः)

चारुश्रीशुभदौ नौमि रुचा वृद्धौ प्रपावनौ ।
श्रीवृद्धौतौ शिवौ पादौ शुद्धौ तौव[1] शशिप्रभ ॥३६॥

अन्वयार्थ - [**शशिप्रभ**] हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र! मैं [**तौव** अथवा **तव**] आपके [**चारुश्रीशुभदौ**] मनोज्ञ समवसरण तथा निःश्रेयस्रूप लक्ष्मी के दायक, [**रुचा**] कान्ति से [**वृद्धौ**] वृद्धि को प्राप्त, [**प्रपावनौ**] परम-पवित्र, [**श्रीवृद्धौतौ**] अन्तरंग एवं बहिरंग लक्ष्मी को प्राप्त करने से प्रक्षालित वा उज्ज्वल (अथवा इन्द्र, चक्रवर्ती, योगीन्द्र और विविध लक्ष्मीवान् महापुरुषों द्वारा प्रक्षालित), [**शिवौ**] कल्याणकारी वा शोभनीय, [**शुद्धौ**] अत्यन्त शुद्ध [**पादौ**] चरण-कमलों को [**नौमि**] नमस्कार करता हूँ।

यह श्लोक अर्द्धभ्रमगूढद्वितीयपादः है, इसके द्वितीय पाद 'रुचा वृद्धौ प्रपावनौ' के समस्त वर्ण इस पद्य के अवशिष्ट तीन पादों में निहित हैं। इस चित्रालंकार की रचना इस प्रकार से है-

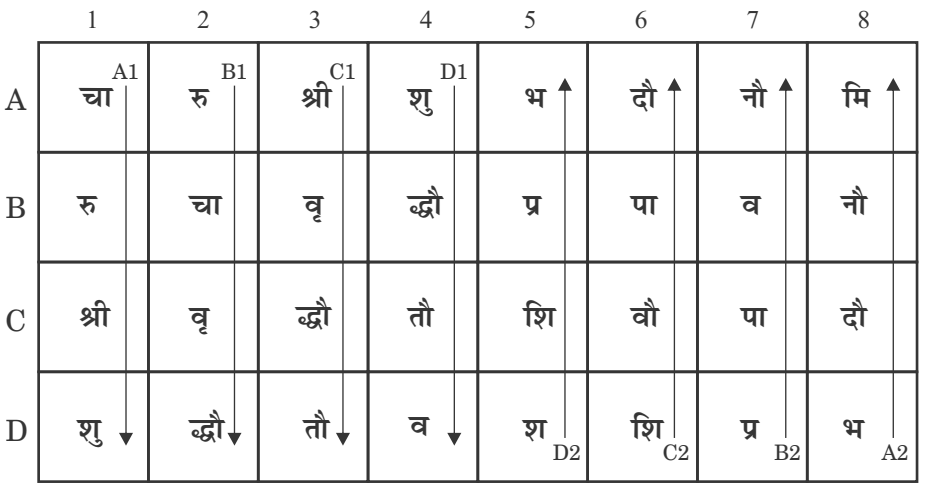

चित्र-३० (अर्द्धभ्रम)

1. पाठान्तर - **तव**

श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ) जिन

चिह्न – मगर

प्रथम गणधर – श्री नाग (अनगार) स्वामी

ॐ श्री पुष्पदन्त-जिन-स्तुतिः ॐ

(निरौष्ठ्यश्लोकयमकः)

शंसनाय कनिष्ठायाश्चेष्टाया यत्र देहिनः ।
नयेनाशंसितं श्रेयः सद्यः सन्नज राजितः ॥३७॥

शं स नायक! निष्ठायाश्चेष्टाया यत्र देहि नः ।
न येनाशं सितं श्रेयः सद्यः सन्नजराजितः ॥३८॥

(युग्मम्)

अन्वयार्थ - [**सन्नजर!**] नष्ट कर दिया है जरा (वृद्धत्व) को जिसने ऐसे हे सन्नजर! [**इष्टायाः**] प्रिय! [**निष्ठायाः**] मोक्षप्राप्ति के [**नायक!**] नायक तीर्थंकर पुष्पदन्त भगवन्! [**अजित**] आप किसी के द्वारा जीते नहीं गये हैं, अर्थात् हरि-हरादि सबको पराजित करने वाले हैं। [**यत्र**] जिस सर्वज्ञ के विषय में अथवा आपके विषय में की गई [**कनिष्ठायाः**] छोटी से छोटी [**चेष्टायाः**] मन-वचन-काय की चेष्टायें [**देहिनः**] प्राणियों को [**यः**] जो [**सन्**] श्रेष्ठ [**श्रेयः**] पुण्यबन्ध [**नयेन**] अनुमान द्वारा या अभिप्राय द्वारा [**आशंसितं**] संभावित है, [**शंसनाय**] वह प्रशंसा के लिए [**राजितः**] शोभित है, अर्थात् वह प्रशंसा के योग्य है। [**अज!**] हे जन्मरहित सर्वज्ञ भगवन्! [**नः**] हमारे लिए [**सद्यः**] शीघ्र ही [**सः**] वह [**शं**] सुख [**देहि**] दीजिये [**येन**] जिससे [**अत्र**] इस संसार में [**अशं**] दुःख का [**सितं**] बन्ध [**न**] नहीं हो, और [**सद्यः**] शीघ्र ही [**श्रेयः**] कल्याण हो।

हे पुष्पदन्त भगवन्! आपके स्तवनादि से प्राणियों को जो पुण्यबन्ध होता है वह यद्यपि छद्मस्थ जीवों के स्वानुभवगम्य नहीं होता - उन्हें उसका प्रत्यक्ष नहीं होता - तथापि उस पुण्यबन्ध से जो कुछ सामग्री प्राप्त होती है उससे उसका अनुमान किया जा सकता है।

यद्यपि इस अनुमान-प्रणाली से पूर्ण पुण्यबन्ध का बोध नहीं हो पाता तथापि जितने पुण्यबन्ध का बोध होता है, विचार करने पर वह भी प्रशंसनीय ठहरता है। उससे भी अनेक ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदयों (फलों) की प्राप्ति हो जाती है। आपके विषय में की गई मन-वचन-काय की साधारण प्रवृत्ति से जब जीव का इतना उपकार होता है तब मन-वचन-काय की पूर्ण शक्ति लगाकर आपकी उपासना करने से उसका कितना बड़ा उपकार होता होगा! हम भक्तों के लिए शीघ्र ही वह अविनाशी सुख प्रदान करो जिससे पुनः वह सुख यहाँ दुःखबद्ध न होकर हमें हमेशा के लिए सुखी बना दे।

इस निरौष्ठ्यश्लोकयमक में ओष्ठ स्थानीय उवर्ण, पवर्ण और उपध्मानीय अक्षर नहीं हैं। साथ में श्लोकावृत्ति होने से श्लोक यमक भी है। यमक का लक्षण श्लोक न. 5-6 के अन्तर्गत बताया जा चुका है। संक्षेप में, जहाँ अर्थ की भिन्नता रहते हुए श्लोक, पाद, पद और वर्णों की पुनरावृत्ति हो वहाँ यमकालंकार होता है। जहाँ एक ही श्लोक को दो बार पढ़ा जाता है उसे महायमक अथवा श्लोकयमक कहते हैं। इन 37 व 38 न. के श्लोकों में एक ही श्लोक को दो बार भिन्न-भिन्न रूप से पढ़ा गया है, अतः यह महायमक अथवा श्लोकयमक है। इसमें ओष्ठ से उच्चारित उवर्ण, पवर्ण और उपध्मानीय नहीं होने से यह निरौष्ठ्यश्लोकयमक अलंकार है।

(मुरजबन्धः)

शोकक्षयकृदव्याधे! पुष्पदन्त! स्ववत्पते!
लोकत्रयमिदं बोधे गोष्पदं[1] तव वर्त्तते ॥३९॥

अन्वयार्थ - [**शोकक्षयकृत!**] हे शोक का क्षय करने वाले! [**अव्याधे!**] हे व्याधियों से रहित! [**स्ववत्पते!**] आत्मज्ञानियों के स्वामी! [**पुष्पदन्त!**] हे पुष्पदन्त भगवान्! [**तव**] आपके [**बोधे**] ज्ञान में [**इदं**] यह [**लोकत्रयं**] तीनों लोक [**गोष्पदं**] कीचड़ में चिह्नित हुए गाय के खुर के समान [**वर्त्तते**] जान पड़ते हैं।

इस श्लोक में आचार्य समन्तभद्र ने पुष्पदन्त भगवान् के ज्ञानगुण के माहात्म्य को दर्शाया है। वे कहते हैं कि आपके समुद्र के समान विशाल ज्ञान में ये तीनों लोक गोष्पद - कीचड़ में चिह्नित हुए गाय के खुर - के समान अत्यन्त तुच्छ (छोटे) प्रतीत होते हैं। प्रमेय पदार्थों की इयत्ता (माप अथवा परिमाण) से आपके प्रमाण-ज्ञान की इयत्ता नहीं आँकी जा सकती। आपका ज्ञान तो स्वभाव से अनन्त है, न कि अनन्त पदार्थों की अपेक्षा से।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

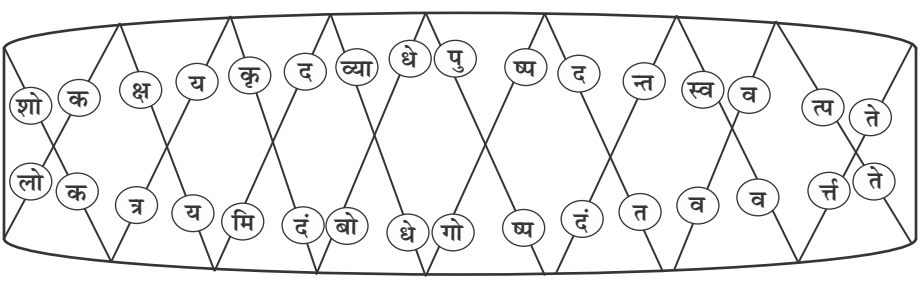

चित्र-३१ (मुरजबन्ध)

1. पाठान्तर - **गोपदं**

(मुरजबन्धः)

लोकस्य धीर! ते वाढं रुचयेपि जुषे मतम् ।
नो कस्मै धीमते लीढं रोचतेपि द्विषेऽमृतम् ॥४०॥

अन्वयार्थ - [**धीर!**] हे धीर-गम्भीर! [**ते**] आपका [**मतं**] यह पवित्र मत (आगम) [**लीढं**] आस्वादन - श्रवण-पठन-चिन्तन - किये जाने पर [**लोकस्य**] भव्य जीवों को [**वाढं**] अत्यन्त [**रुचये**] रुचि के लिए, दीप्ति के लिए और [**जुषे अपि**] प्रीति के लिए भी होता है। [**अमृतं**] अमृत [**कस्मै धीमते**] किस बुद्धिमान के लिए [**नः रोचते**] रुचिकर नहीं होता है, [**द्विषे अपि**] भले ही वह उससे द्वेष ही रखता हो?

अमृत से चाहे कोई प्रीति रखे चाहे द्वेष, उसका आस्वादन करने पर वह जिस तरह सबको सुख पहुँचाता है, उसी प्रकार से कोई आपसे प्रीति रखे चाहे विद्वेष, आपका मत-आगम सबको सुख पहुँचाता है, सुख का रास्ता बतलाता है। उसका कारण है आपकी धीरता-गम्भीरता और स्तुति-निन्दा में समानता। इसीलिये आचार्य समन्तभद्र ने इस श्लोक में पुष्पदन्त भगवान् के लिए 'धीर' विशेषण प्रयुक्त किया है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

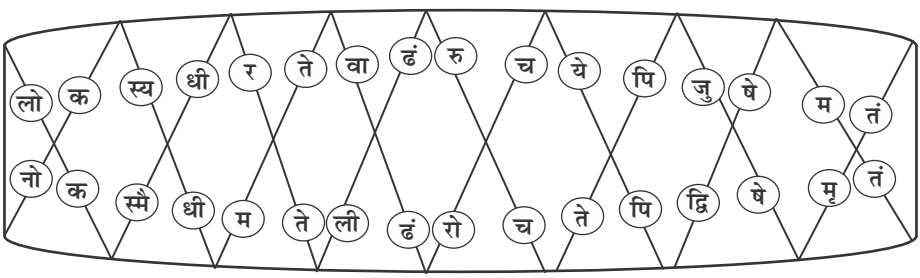

चित्र-३२ (मुरजबन्ध)

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं
प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे स्वधाम्ना
नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः ॥ (९-१-४१)

हे सुविधिनाथ (श्री पुष्पदन्त) भगवन्! आपने अपने केवलज्ञान-रूप तेज से यथार्थ जानकर जो जीवादि पदार्थों के स्वभाव का प्रतिपादन किया वह एकान्त दर्शन का निषेधक अर्थात् अनेकान्त दर्शन का पोषक है। प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणों से सिद्ध है। तत् (विधि) तथा अतत् (निषेध) स्वरूप अर्थात् किसी अपेक्षा से तत्स्वरूप है, किसी अपेक्षा से अतत्स्वरूप है। आपसे अन्य, जो सर्वज्ञ व वीतराग नहीं हैं, उन्होंने इस प्रकार तत्त्व का अनुभव प्राप्त नहीं किया है।

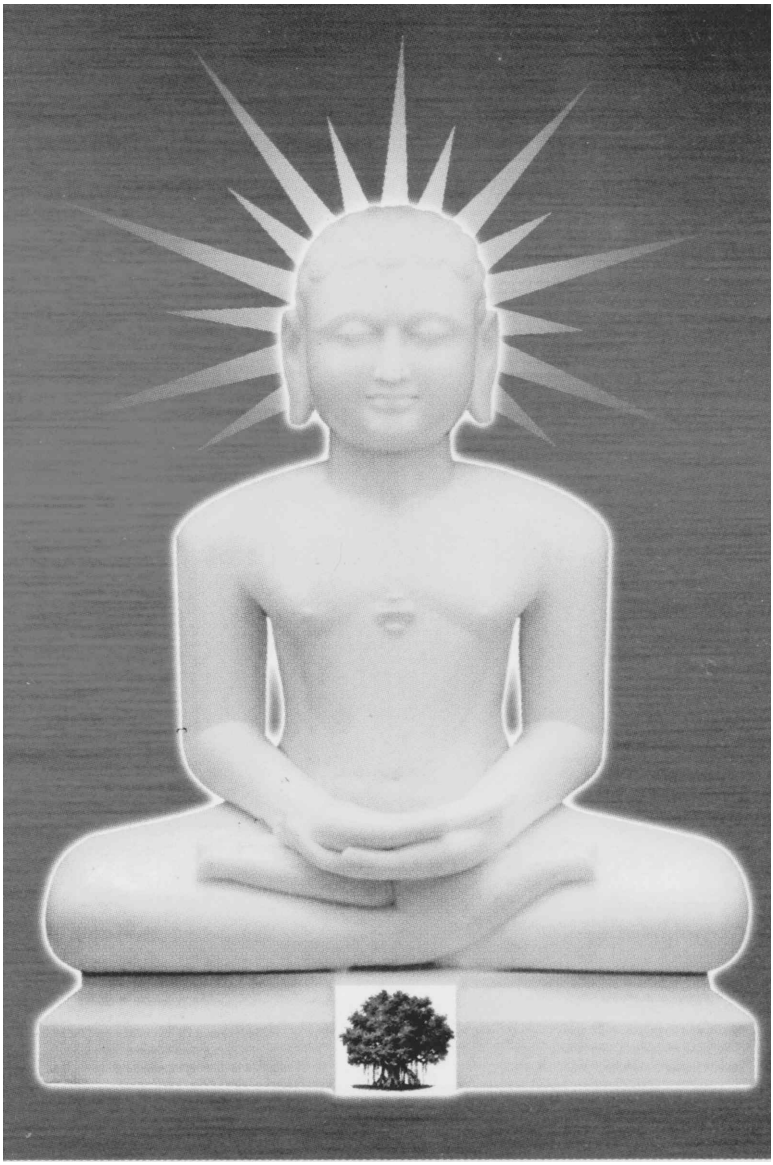

श्री शीतलनाथ जिन

चिह्न – कल्पवृक्ष

प्रथम गणधर – श्री कुन्थु स्वामी

ॐ श्री शीतल-जिन-स्तुतिः ॐ

(मुरजबन्धः)

एतच्चित्रं क्षितेरेव घातकोपि प्रपादकः[1] ।
भूतनेत्र! पतेऽस्यैव शीतलोपि च पावकः ॥४१॥

अन्वयार्थ - [**भूतनेत्र!**] हे प्राणियों के लोचन! [**पते**] प्रभो! [**एतत्**] यह [**चित्रं**] आश्चर्य की बात है कि [**क्षितेः**] पृथिवी के - पृथिवीगत प्राणियों के (पक्ष में ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलों के) [**घातकः**] घातक होकर [**अपि**] भी [**प्रपादकः एव असि**] आप प्रपालक (रक्षक) ही हैं, [**च**] और [**शीतलः अपि**] शीतल - शीतगुण विशिष्ट (पक्ष में शीतलनाथ भगवान्, दशम तीर्थंकर) - होकर भी [**पावकः एव**] पावक-अग्नि (पक्ष में पवित्र करने वाले) ही हैं।

इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है अतः पहले इसमें विरोध मालूम पड़ता है परन्तु बाद में उसका परिहार हो जाता है। जहाँ श्लेष इसका मूल होता है वहाँ विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। यहाँ 'क्षिति', शीतल' और 'पावक' - ये शब्द श्लिष्ट हैं। जो 'क्षिति' - पृथिवी - का घातक होगा वह प्रपादक अथवा पालक कैसे होगा? यह विरोध है, परन्तु परिहार पक्ष में 'क्षिति' का अर्थ कर्मरूप पार्थिव (पुद्गलपरमाणु) लेने से विरोध दूर हो जाता है। इसी तरह जो शीतल - ठण्डा - होगा वह पावक - अग्नि - कैसे होगा? यह विरोध है, परन्तु शीतल का अर्थ दशम तीर्थंकर शीतलनाथ और पावक का अर्थ पवित्र करने वाले लेने से विरोध दूर हो जाता है।
अथवा, 'हे भगवन्! आप घातक होकर भी प्रपालक हैं और शीतल होकर भी पावक (अग्नि) हैं' - इस प्रकार का विरोध जड़ मनुष्यों को ही हो सकता है, विद्वानों को नहीं।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

---

1. पाठान्तर - **प्रसादकः**

एतच्चित्रं क्षितेरेव घातकोपि प्रपादकः ।
भूतनेत्र! पतेऽस्यैव शीतलोपि च पावकः ॥४१॥

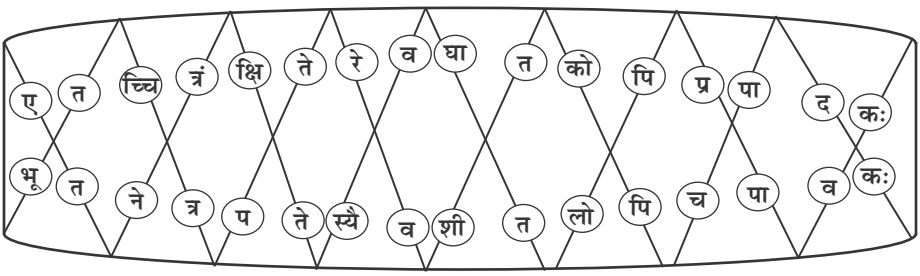

चित्र-३३ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

काममेत्य जगत्सारं जनाः स्नात महोनिधिम् ।
विमलात्यन्तगम्भीरं जिनामृतमहोदधिम् ॥४२॥

अन्वयार्थ - [**जनाः!**] हे भव्य जीवों! [**एत्य**] यहाँ आकर तुम उस [**जिनामृतमहोदधिं**] जिनेन्द्ररूपी क्षीरसमुद्र में [**कामं**] अपनी इच्छानुसार (यथेष्ट) [**स्नात**] स्नान करो - कर्ममल का प्रक्षालन करके अपने आप को पवित्र बनाओ - जो कि [**जगत्सारं**] संसार में सारभूत अथवा तीनों लोकों में श्रेष्ठ है, [**महोनिधिं**] उत्सव अथवा श्रेष्ठ महान् तेज का स्थान है, [**विमल**] विमल - कर्ममल एवं कर्दम आदि से रहित है, [**अत्यन्तगम्भीरं**] अत्यन्त (विनाश-रहित और पार-रहित), धीरवीर और गम्भीर (गहरा) है।

इस श्लोक में रूपक-अलंकार[1] से जिनेन्द्रदेव और क्षीरसमुद्र में अभेद किया गया है। इसमें जो विशेषण दिये गये हैं वे प्रायः श्लेषमय होने से दोनों के - जिनेन्द्रदेव और क्षीरसमुद्र के - पक्ष में ठीक-ठीक बैठ जाते हैं। यथा- जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव तीनों लोकों में सारभूत (श्रेष्ठ) हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी जिनेन्द्रदेव की अभिषेक क्रिया में उसका जल उपयोग में आने के कारण सारभूत है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अनन्त ज्ञान, अनन्त पराक्रम आदि महातेज के भण्डार हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी 'महानिधि' देवकृत अनेक उत्सवों का भण्डार तथा महारत्नों का स्थल है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव कर्ममल से रहित होने के कारण विमल हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी कर्दम, शैवाल आदि मल के न होने से विमल है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अन्त से रहित हैं उसी तरह क्षीरसमुद्र भी अन्त से (पार से) रहित है, अत्यन्त विस्तृत है। और जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव गम्भीर हैं - राग-द्वेष से रहित होने से धीर-वीर हैं - उसी तरह क्षीरसमुद्र भी गम्भीर है - गहरा है। इस जिनेन्द्रदेव-रूपी भव्य

1. जहाँ उपमेय पर उपमान का आरोप कर दिया जाए, वहाँ रूपक-अलंकार होता है। आरोप का अर्थ है, रूप दे देना। आरोप में समानता - समानता वाचक पद - का कथन नहीं किया जाता है। समानता का बोध अत्यन्त सादृश्य के कारण गम्य होता है। यद्यपि उपमेय को उपमान का रूप दे दिया जाता है, तो भी उपमेय का साथ रहना आवश्यक है। उदाहरण - 'मुख चांद है।' यहाँ पर मुख (उपमेय) को चांद (उपमान) का रूप दे दिया गया है। (देखें, **'अलङ्कार प्रवेशिका'**, पृ. 82-83)

क्षीरसमुद्र में स्नान करने से - भक्तिपूर्वक उनका ध्यान करने से - सब कर्ममल नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये आचार्य ने भव्य जीवों को इस अनुपम क्षीरसागर में स्नान करने का आदेश दिया है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

काममेत्य जगत्सारं जनाः स्नात महोनिधिम् ।
विमलात्यन्तगम्भीरं जिनामृतमहोदधिम् ॥४२॥

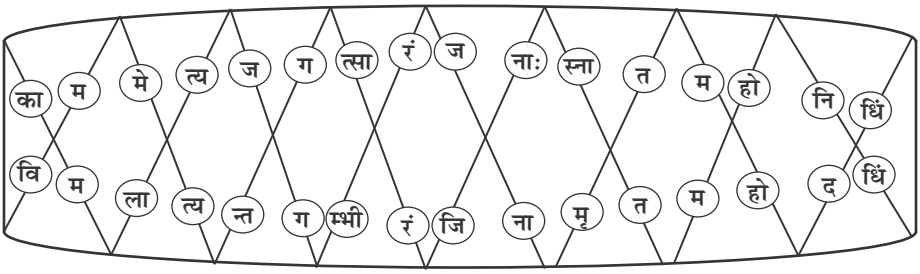

चित्र-३४ (मुरजबन्ध)

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो
न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः
शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥

(१०-१-४६)

हे भगवन्! आप ज्ञानी (श्री शीतलनाथ भगवान्) की वीतरागमई जल से भरी हुई व पाप-रहित निर्दोष वचन रूपी किरणें भेद-ज्ञानी जीवों को जैसी शीतलता या सुख-शान्ति देने वाली होती हैं उस प्रकार संसार-ताप हरण करने वाली न चन्दन है, न चन्द्रमा की किरणें हैं, न गंगा नदी का जल है और न ही मोतियों की मालाएँ हैं।

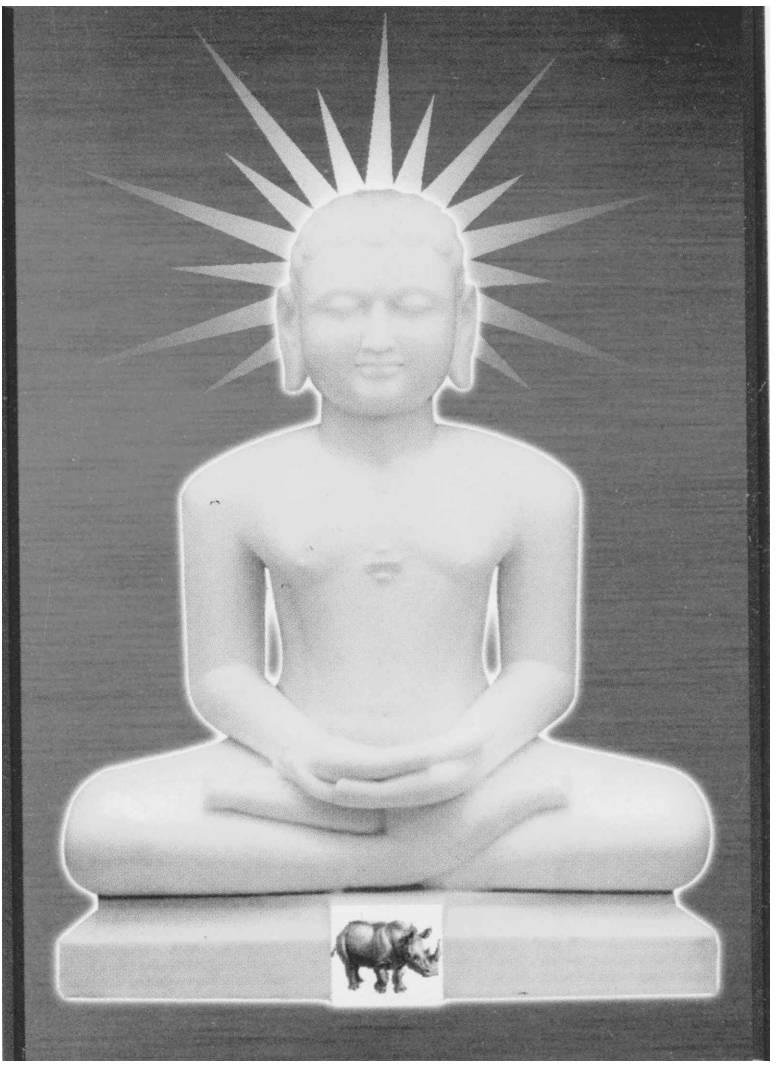

श्री श्रेयांसनाथ जिन

चिह्न – गेंडा

प्रथम गणधर – श्री धर्म स्वामी

ॐ श्री श्रेयांस-जिन-स्तुतिः ॐ

(अर्द्धभ्रमनिरौष्ठ्यगूढचतुर्थपादः)

हरतीज्याहिता तान्तिं रक्षार्थायस्य नेदिता ।
तीर्थादे श्रेयसे नेताज्यायः श्रेयस्ययस्य हि ॥४३॥

अन्वयार्थ - [**तीर्थादे!**] हे तीर्थ के आदि में उत्पन्न होने वाले भगवन्! (भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ - धर्मशासन - के अन्तिम समय में तीर्थ अर्थात् धर्म का विच्छेद हो गया था, इसके पश्चात् श्रेयांसनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ। अतः इन्हें तीर्थ के आदि में उत्पन्न होने वाला मानकर 'तीर्थादे' यह सम्बोधन निष्पन्न हुआ है।) [**अज्यायः**] हे जरारहित अथवा वृद्धत्व से रहित [**श्रेयसि**] ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ भगवान्! [**आयस्य**] आप में प्रयत्नपूर्वक की गई, [**नेदिता**] समीपीकृत होकर (मन-वचन-काय को एकाग्र करके) [**आहिता**] की गयी [**इज्या**] पूजा-भक्ति [**तान्तिं**] सांसारिक क्लेश या दुःखों को [**हरति**] नष्ट करती है, [**अयस्य**] पुण्य की [**रक्षार्था**] रक्षा करती है, तथा [**श्रेयसे**] कल्याण के लिए होती है। [**हि**] निश्चय से हे भगवन्! आप ही [**नेतो**] सर्वश्रेष्ठ नायक हैं।

यह पद्य अर्धभ्रम है, इसमें ओष्ठ्य उवर्ण, पवर्ण और उपध्मानीय अक्षर नहीं है तथा चतुर्थपाद - 'ज्यायः श्रेयस्ययस्य हि' - के समस्त वर्ण इस पद्य के अवशिष्ट तीन पादों में निहित हैं। श्लोकावृत्ति होने से श्लोकयमक भी है। इस तरह के श्लोक की रचना को अर्द्धभ्रमनिरौष्ठ्यगूढचतुर्थपाद कहते हैं।

इस श्लोक के अर्द्धभ्रमः चित्रालंकार की रचना अगले पृष्ठ पर देखिये-

हरतीज्याहिता तान्तिं रक्षार्थायस्य नेदिता ।
तीर्थादे श्रेयसे नेताज्यायः श्रेयस्ययस्य हि ॥४३॥

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	ह A1	र B1	ती C1	ज्या D1	हि	ता	ता	न्तिं
B	र	क्षा	र्था	य	स्य	ने	दि	ता
C	ती	र्था	दे	श्रे	य	से	ने	ता
D	ज्या	यः	श्रे	य	स्य D2	य C2	स्य B2	हि A2

चित्र-३५ (अर्द्धभ्रम)

(अर्द्धभ्रमः)

अविवेको न वा जातु विभूषापन्मनोरुजा ।
वेषा मायाज वैनो वा कोपयागश्च जन्म न ॥४४॥

अन्वयार्थ - **[अज!]** हे सर्वज्ञ! (सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त होने पर) आप श्रेयांसनाथ भगवान् में (यहाँ 'त्वयि श्रेयसि' ऊपर के श्लोक से ग्रहण किया गया है।) **[जातु]** कभी भी **[अविवेकः न]** अविवेक-अज्ञान नहीं था, **[विभूषा]** शरीर के अलंकार-आभूषण आदि, **[आपत् मनोरुजा]** शारीरिक तथा मानसिक व्यथा, **[वेषा]** चित्र-विचित्र वेष आदि **[न]** नहीं थे। **[वा]** तथा आप में **[माया]** माया, **[एनः वा]** और पाप, **[कोपः]** क्रोध, **[आगः]** अपराध **[जन्म च]** तथा जन्म आदि **[न]** नहीं थे।

सांख्य, बौद्ध, नैयायिक आदि अन्य मतावलम्बी जो ईश्वर को ज्ञानस्वरूप नहीं मानते किन्तु ज्ञान के संयोग से ज्ञानी मानते हैं वा सुख-दुःख ज्ञानादि गुणों से रहित मानते हैं, उनका खण्डन करने के लिये इस श्लोक में आचार्यवर्य कहते हैं कि हे भगवन्! आप में अविवेक नहीं है, आप अनन्त गुणों के भण्डार हैं, निरन्तर ज्ञानमय रहते हैं। कितने ही दर्शनों के मानने वाले अपने देवों को अनेक प्रकार के आभूषणों, वेष-विन्यास सहित तथा शस्त्र-अस्त्र के धारक मानते हैं। परन्तु आप श्रेयांसनाथ भगवान्! शरीर के अलंकार-आभूषण आदि, शारीरिक तथा मानसिक व्यथा, चित्र-विचित्र वेष आदि से सर्वथा रहित थे। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि एक बार मुक्त हो चुकने पर भी असत् पुरुषों के निग्रह के लिये, सज्जनों के उपकार के लिये और सद्धर्म की स्थापना के लिये भगवान् पुनर्जन्म लेते हैं और इस प्रकार फिर से संसार के दुःखों को प्राप्त होते हैं। इसका निराकरण करने के लिये प्रस्तुत श्लोक में भगवान् का जन्म नहीं होता, ऐसा कहा है।

इस श्लोक के अर्द्धभ्रमः चित्रालंकार की रचना अगले पृष्ठ पर देखिये-

अविवेको न वा जातु विभूषापन्मनोरुजा ।
वेषा मायाज वैनो वा कोपयागश्च जन्म न ॥४४॥

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	अ A1	वि B1	वे C1	को D1	न	वा	जा	तु
B	वि	भू	षा	प	न्म	नो	रु	जा
C	वे	षा	मा	या	ज	वै	नो	वा
D	को	प	या	ग	श्च D2	ज C2	न्म B2	न A2

चित्र-३६ (अर्द्धभ्रम)

(मुरजबन्धः)

आलोक्य चारु लावण्यं पदाल्लातुमिवोर्जितम् ।
त्रिलोकी चाखिला पुण्यं मुदा दातुं ध्रुवोदितम् ॥४५॥

अन्वयार्थ - [**मुदा**] हर्षपूर्वक [**पुण्यं**] पुण्य को [**दातुं**] प्रदान करने के लिए [**ध्रुवोदितं**] निरन्तर उदित रहने वाले, [**ऊर्जितं**] विस्तृत, [**चारु**] मनोहर [**लावण्यं**] सौन्दर्य को [**आलोक्य**] देखकर [**पदात्**] आपके चरणों से [**लातुं**] उस लावण्य को प्राप्त करने के लिये ही [**इव**] मानो [**च**] अत्यन्तर्थ (विशेषरूप से) [**अखिला त्रिलोकी**] सारे तीन लोक के जीव आपको [**ननाम**] नमस्कार करते हैं। ('ननाम' पद श्लोक न. 46 से ग्रहण करना चाहिये।)

भव्य जीव लोकोत्तर सौन्दर्य से आकृष्ट होकर जिनेन्द्रदेव के चरणों में जो अपना मस्तक झुकाते हैं सो मानो वे उनके चरण-कमलों का सौन्दर्य लेने के लिए ही उन्हें नमस्कार करते हैं। यह उत्प्रेक्षालंकार[1] है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

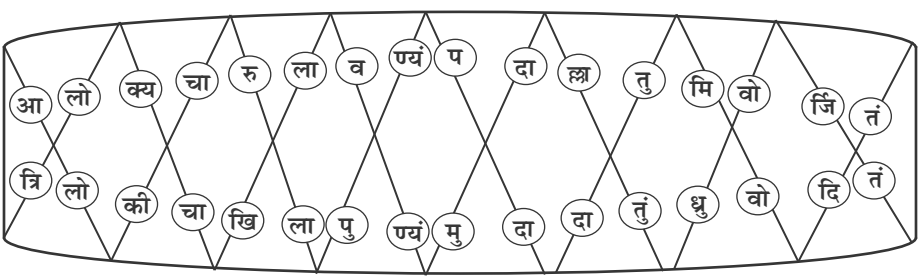

चित्र-३७ (मुरजबन्ध)

1. जहाँ उपमेय में कल्पित उपमान की संभावना की जाए, वहाँ उत्प्रेक्षा-अलंकार होता है। उत्प्रेक्षा में प्रकृत (उपमेय) में अप्रकृत (उपमान) की संभावना की जाती है। उदाहरण - 'यह मुख मानो चांद है।' उत्प्रेक्षा का अर्थ है उत्कट रूप में प्रेक्षण-देखना, अर्थात् उपमेय में उपमान को प्रबल रूप में देखना। (देखें, **'अलङ्कार प्रवेशिका'**, पृ. 104)

(श्लोकयमकः)

अपराग! समाश्रेयन्नानाम यमितोभियम् ।
विदार्य सहितावार्य! समुत्सन्नज! वाजितः ॥४६॥

अपराग! स मा श्रेयन्नानामयमितोभियम् ।
विदार्यसहितावार्य! समुत्सन्नजवाजितः ॥४७॥

(युग्मम्)

अन्वयार्थ (४६) - [**अपराग!**] हे वीतरागदेव! [**अज!**] हे सर्वज्ञ! [**सहितावार्य!**] हे हितइच्छुक! (देव, चक्रवर्ती के द्वारा परिवेष्ठित अर्थात् स्वहित इच्छुक प्राणी आपके पदारविन्द को घेर कर बैठे रहते हैं।) [**यं**] जिसको (आपके पदारविन्द को) [**इतः**] प्राप्त हुए (वे भव्य प्राणी) [**भयं विदार्य**] भय को नाश कर, [**समुत्सन्**] हर्षित होकर, [**वाजितः**] पुलकित (रोमान्चित) हो जाते हैं। [**समाश्रेयं**] सम्यक् प्रकार से आश्रय लेने योग्य (आपके पदारविन्द की) वे [**ननाम**] भक्ति-वन्दना आदि करते हैं।

अन्वयार्थ (४७) - [**अपराग!**] हे कषायरज से रहित प्रभो! [**श्रेयन्**] ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसदेव! [**विदार्यसहित!**] हे ज्ञानी साधुजनों से युक्त! [**आर्य!**] हे सर्वश्रेष्ठ पूजनीय स्वामी! [**आजितः समुत्सन्नजव**] रागद्वेषरूप संग्राम से जिसका उत्साह अथवा वेग नष्ट हो गया है अर्थात् निष्कषायी भगवन्, [**इतः**] इस समय में (आपके दर्शनमात्र से) [**सः**] वे (प्राणी) [**अनामयं**] नीरोगता और [**अभियं**] निर्भयता को प्राप्त हो जाते हैं। अतः (हे श्रेयांसदेव!) [**मा**] मेरी [**अव**] रक्षा करो।

दोनों श्लोकों का सम्बन्ध ऐसे बनता है- हे जिनेश्वर! आप जैसी अवस्था वा सौन्दर्य को प्राप्त करने के लिए जो आपके चरणों में नमस्कार करते हैं वे भव्य वास्तव में निर्भय, नीरोग अवस्था को प्राप्त होते हैं। ऐसे हे भगवन्! मुझ शरणागत की रक्षा करो, मुझे भी आप जैसी अवस्था प्रदान करो। यहाँ महा-यमक श्लोक है।

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः
श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः ।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको
यथा वीतघनो विवस्वान् ॥ (११-१-५१)

हे भगवान् श्रेयांसनाथ! सम्पूर्ण कषायों, इन्द्रियों अथवा कर्म-शत्रुओं को जीतने वाले 'जिन'! अपने अबाधित व प्रमाणिक वचनों द्वारा संसारी जीवों को कल्याणकारी मोक्ष मार्ग में हित का उपदेश देते हुए आप अकेले ही इन तीनों लोकों में बादलों से रहित एक अपूर्व सूर्य के समान प्रकाशमान हुए थे।

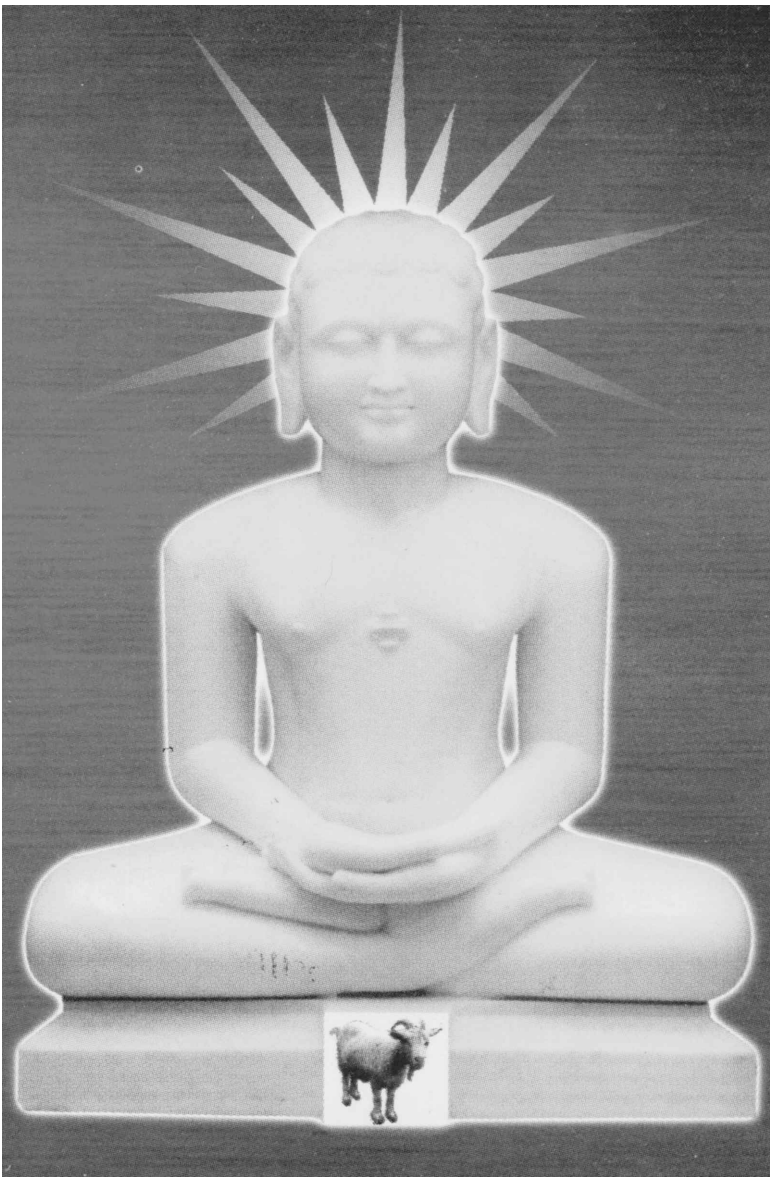

श्री वासुपूज्य जिन

चिह्न – भैंसा

प्रथम गणधर – श्री मन्दिर (मन्दार्य) स्वामी

ॐ श्री वासुपूज्य-जिन-स्तुतिः ॐ

(अनन्तरपादमुरजबन्धः)

अभिषिक्तः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तः परैर्न कैः ।
वासुपूज्य मयीशेशस्त्वं सुपूज्यः कयीदृशः[1] ॥४८॥

अन्वयार्थ - [**वासुपूज्य!**] हे वासुपूज्य बारहवें तीर्थंकर! [**सुरैः**] आप चार प्रकार के देवों के द्वारा [**अभिषिक्तः**] अभिषेक किये गये, [**त्रिभिः लोकैः**] तीन लोकों के द्वारा [**भक्तः**] सेवित हो। [**परैः कैः न**] अन्य किसके द्वारा आप सेवित नहीं हो? अर्थात् सब के द्वारा सेवित हो। [**मयि**] मेरे विषय में [**त्वं**] आप ही [**ईशेशः**] ईशेश्वर (ईश्वरों के ईश्वर) हो - मेरे लिये सर्वश्रेष्ठ ईश्वर आप ही हैं। [**कयीदृशः** अथवा **क ईदृशः**] आप जैसा कौन दूसरा [**सुपूज्यः**] पूजनीय है?

हे भगवन्! चतुर्निकाय (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी) देवों ने सुदर्शन-मेरु के मस्तक पर क्षीरसमुद्र के जल से आपका अभिषेक किया था। तीन लोक के सारे इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि ने आपकी सेवा-पूजा की थी। संसार में ऐसा कौन देव, दानव या मानव है जो आपका भक्त नहीं है? हे वासुपूज्य भगवान्! मेरे लिए तो आप ही सर्वोत्कृष्ट ईश्वर हैं, देवाधिदेव हैं। इस जगत् में आपके समान दूसरा अर्हत्पुरुष (महान् ईश्वर) कौन है - अर्थात् कोई नहीं है - जो मेरा स्वामी हो सके?

यह अनन्तरपाद-मुरजबन्ध श्लोक है। प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ पाद में मुरजबन्ध है। (ऐसे अन्य श्लोक न. 64, 66 और 100 पर स्थित हैं।) इसका चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये।

---

1. पाठान्तर - **क ईदृशः**

अभिषिक्तः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तः परैर्न कैः ।
वासुपूज्य मयीशेशस्त्वं सुपूज्यः कयीदृशः ॥४८॥

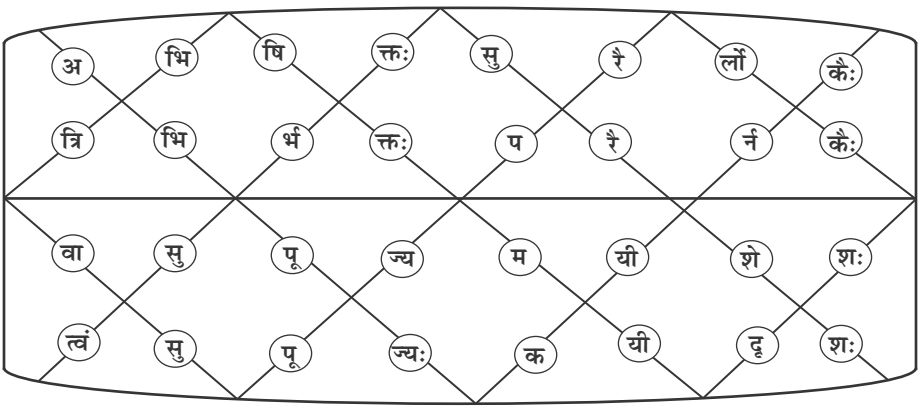

चित्र-३८ (अनन्तरपादमुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

चार्वस्यैव क्रमेऽजस्य तुंगः सायो नमन्नभात् ।
सर्वतो वक्त्रमेकास्यमंगं छायोनमप्यभात् ॥४९॥

अन्वयार्थ - [**अजस्य एव**] सर्वज्ञ भगवान् के ही [**क्रमे**] चरण-कमलों में [**नमन्**] नमस्कार करने वाला (पुरुष) [**तुंगः**] उच्च और [**सायः**] पुण्यवान् होता हुआ [**अभात्**] शोभित होता है। [**अस्य**] इनके [**एकास्यं वक्त्रं अपि**] एक मुख होते हुए भी वे [**सर्वतः**] चारों तरफ से दृष्टिगोचर होते हैं। [**छायोनं**] छायारहित [**अंगं**] शरीर भी [**चारु**] अत्यन्त [**अभात्**] शोभित होता है।

इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है-

'जो चरणों में नम्र होता है वह उच्च नहीं होता और जो उच्च होता है वह किसी के चरणों में नम्र नहीं होता', यह लोकप्रसिद्ध बात है। परन्तु तीन लोक के नाथ, इन्द्रों से पूजित, सर्वज्ञदेव वासुपूज्य भगवान् के चरणों में नमस्कार करने वाला पुरुष सातिशय पुण्य बाँध कर अन्त में उच्चपद (मोक्षपद) को प्राप्त कर लेता है। यह वासुपूज्य भगवान् के प्रति विरोध नहीं है।

'जिसके एक मुख है वह केवल सामने से ही दिखाई देगा, चारों ओर से नहीं', इसलिए वासुपूज्य भगवान् के लिए यह कहना कि एक मुख होते हुए भी वे चारों तरफ से दृष्टिगोचर होते थे, इसमें विरोध लगता है। परन्तु केवली भगवान् के लिए यह विरोध नहीं है क्योंकि केवलज्ञान के 10 अतिशयों में से एक अतिशय यह भी है कि भगवान् का मुख चारों तरफ से दृष्टिगोचर होता है।

'जो शरीर छाया से रहित होता है वह शोभित नहीं होता, परन्तु भगवान् वासुपूज्य का शरीर छाया से रहित होकर भी अत्यन्त शोभयमान होता था', यह भी विरुद्ध बात है। परन्तु इसका परिहार निम्न प्रकार से है- यहाँ छाया शब्द के दो अर्थ हैं, कान्ति और प्रतिबिम्ब। प्रथम कान्ति अर्थ से विरोध आता है और द्वितीय प्रतिबिम्ब अर्थ से उसका परिहार हो जाता है। केवलज्ञान होने पर शरीर की छाया नहीं पड़ती, यह केवलज्ञान का अतिशय है। अतः जिसके शरीर की छाया नहीं पड़ती और जो शरीर अत्यन्त सुन्दर है, यह अर्थ है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

चार्वस्यैव क्रमेऽजस्य तुंगः सायो नमन्नभात् ।
सर्वतो वक्त्रमेकास्यमंगं छायोनमप्यभात् ॥४९॥

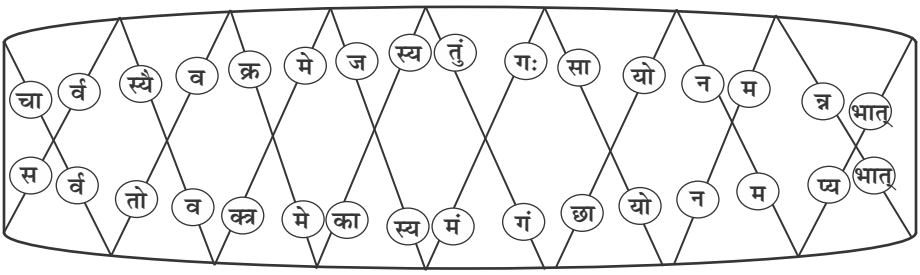

चित्र-३९ (मुरजबन्ध)

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु
त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः ।
मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र
दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥ (१२-१-५६)

हे गणधरदेवादि मुनियों के स्वामी! वासुपूज्य नाम को धारण करने वाले आप शोभनीक गर्भ, जन्म, तप आदि कल्याणकों की क्रियाओं में पूजे गए हो तथा इन्द्रादि देव व महान् सम्राटों से पूज्यनीय हो। इसलिए मुझ अल्पबुद्धि (आचार्य समन्तभद्र) से भी पूज्यनीय हो। दीपक की ज्योति से क्या सूर्य पूजा नहीं जाता है?

श्री विमलनाथ जिन

चिह्न – शूकर

प्रथम गणधर – श्री जय स्वामी

ॐ श्री विमल-जिन-स्तुतिः ॐ

(इष्टपादमुरजबन्धः)

क्रमतामक्रमं क्षेमं धीमतामर्च्यमश्रमम् ।
श्रीमद्विमलमर्चेमं वामकामं नम क्षमम् ॥५०॥

अन्वयार्थ - हे भव्यजनों! **[अक्रमं]** क्रम-रहित, एक साथ सर्व-पदार्थों को **[क्रमतां]** जानने वाले, **[क्षेमं]** कल्याणकारी, **[धीमतां]** बुद्धिमानों के द्वारा **[अर्च्यं]** पूजनीय, **[अश्रमं]** श्रमरहित अर्थात् खेदरहित, **[वामकामं]** गणधरादि महापुरुषों के द्वारा वांच्छित, **[क्षमं]** समर्थ वा क्षमता के धारी, **[इमं]** इस **[श्रीमद्विमलं]** श्रीमान् विमलनाथ भगवान् को **[अर्च]** पूजो तथा **[नम]** नमस्कार करो।

जो तीन लोक और त्रिकालवर्ती सारे पदार्थों को एक साथ जानते हैं, महामंगल स्वरूप हैं, ज्ञानीजनों के द्वारा पूज्य हैं, आराध्य हैं। जो सर्व क्लेश, खेद, चिन्ता आदि से रहित हैं और अनन्त शक्ति के धारक हैं। इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि प्रधान पुरुष जिनके चरणों की सेवा करने की इच्छा रखते हैं। जो क्षम अर्थात् समर्थ हैं, क्रोधादि विभाव भावों से रहित हैं। ऐसे अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ भगवान् को हे भव्यजीवों! नमस्कार करो, उनकी पूजा करो।

संसार में दुःख प्राप्ति के मुख्य दो कारण हैं- एक कषाय और दूसरा अज्ञान। हमारे आराध्यदेव वीतराग हैं। वे कषायरहित हैं और सर्वज्ञ भी हैं, अर्थात् दुःख प्राप्ति के दोनों कारणों से रहित हैं। वे अनन्त सुख-सम्पन्न हैं। जो भव्य जीव सच्चे हृदय से उनकी भक्ति करता है वह भी तद्रूप होने से तत्काल में सुख का अनुभव करने लगता है। अतः इस श्लोक में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सुखाभिलाषी जीवों को सुख प्राप्ति का उपाय बतलाया है। वह यही है कि भगवान् विमलनाथ को नमस्कार करो, उनकी पूजा करो।

इस श्लोक में यथेष्टैकाक्षरान्तरित-मुरजबन्ध है; इसकी विशेषता है कि इसमें अपना इष्ट

अक्षर – जो यहाँ पर 'म' है – एक-एक अक्षर के अन्तर से पद्य के चारों ही चरणों में बराबर प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इस प्रकार के दूसरे श्लोक 89 और 91 हैं।
इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

क्रमतामक्रमं क्षेमं धीमतामर्च्यमश्रमम् ।
श्रीमद्विमलमर्चेमं वामकामं नम क्षमम् ॥५०॥

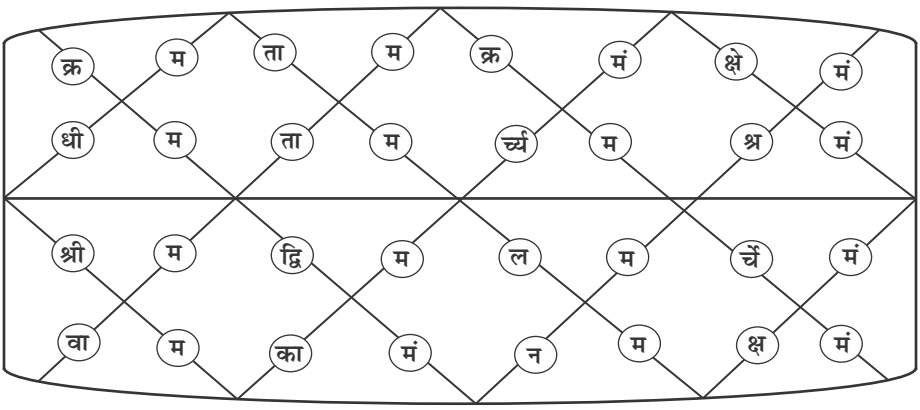

चित्र-४० (यथेष्टैकाक्षरान्तरित-मुरजबन्ध)

(द्वयक्षरपादाभ्यासयमकः)

ततोमृतिमतामीमं तमितामतिमुत्तमः ।
मतोमाताति‌ता तोत्तुं तमितामतिमुत्तमः ॥५१॥

अन्वयार्थ - [**ततः**] आपकी स्तुति करने से भव्य पुरुषों को अनेक कल्याण प्राप्त होते हैं, वे सांसारिक दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिये मैं भी [**अतिमुत्तमः**] अत्यन्त हर्षित हुआ, [**तमितां**] दुःखों का [**तोत्तुं**] नाश करने के लिए, [**अमृतिं**] मृत्यु से रहित तथा [**तमितामतिं**] अज्ञान को नाश करने वाले [**इमं**] इन विमलनाथ भगवान् की [**अतामि**] शरण में जाता हूँ। हे भगवन्! आप [**उत्तमः**] अति उत्तम हो, [**मतः**] सबके द्वारा पूजित हो, [**अमाता**] परम-अहिंसक हो, (जबकि मैं इसके विपरीत) [**अतिता**] चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करने वाला हूँ।

यह श्लोक केवल 'त' और 'म' इन दो अक्षरों से बनाया गया है तथा इसका दूसरा और चौथा पाद एक समान हैं इसलिये इसमें व्यंजन-चित्र और यमक अलंकार है।

श्लोक की प्रथम पंक्ति का दूसरा पाद-	त	मि	मा	म	ति	मु	त्त	मः
यही द्वितीय पंक्ति का दूसरा पाद है-	त	मि	ता	म	त	मु	त्त	मः

चित्र-४१ (द्वयक्षरपादाभ्यासयमक)

(अक्षरद्वयविरचितसमुद्गकयमकः)

नेतानतनुते नेनोनितान्तं नाततो नुतात् ।
नेता न तनुते नेनो नितान्तं ना ततो नुतात् ॥५२॥

अन्वयार्थ - [**अनेनः!**] हे पापरहित विमलनाथ भगवान्! आप [**इतान्**] शरणागत [**न न अततः**] संसार में (न) भटकने वाले (नहीं) अर्थात् भटकने वाले प्राणियों को [**अनितान्तं**] बिना क्लेश [**अतनुते**] शरीर-रहित कर देते हैं (अर्थात् सिद्धत्व-पर्याय प्राप्त करा देते हैं)। आप [**नुतात्**] नमस्कार करने वाले [**ना**] प्राणी को [**नितान्तं**] सबका [**इनः**] स्वामी और [**नेता**] नेता [**न तनुते न**] नहीं बनाते हो ऐसा नहीं है, अर्थात् बना ही देते हो। [**ततः**] इसलिये [**नुतात्**] (ऐसे इन विमलनाथ स्वामी को) तुम भी नमस्कार करो।

यह श्लोक केवल 'न' और 'त' इन दो अक्षरों से बनाया गया है। यहाँ समुद्गकयमक अलंकार है। जैसे अक्षर पूर्वार्द्ध और पश्चार्द्ध में हैं, वैसे ही तृतीय और चतुर्थ पाद में हैं। समुद्गक के समान होने से यह समुद्गकयमक अलंकार है। (देखें, श्लोक न. 5 के अन्तर्गत यमक अलंकार की व्याख्या।) श्लोक न. 25 में भी यह अलंकार आ चुका है।

चित्र-४२ (समुद्गकयमक)

(चक्रश्लोकः)

नयमानक्षमामान न मामार्यार्त्तिनाशन ।
नशनादस्य नो येन नये नोरोरिमाय न ॥५३॥

अन्वयार्थ - [**नयमानक्षम्!**] हे प्रशंसनीय क्षमाभाव से सम्पन्न! [**अमान!**] हे अहंकार शून्य! [**आर्यार्त्तिनाशन!**] हे साधुजनों की पीड़ा के नाशक! [**उरो!**] हे सर्वश्रेष्ठ! [**न न अरिमाय!**] कर्मशत्रुओं के घातक नहीं हैं ऐसा नहीं, अतः हे कर्मशत्रुओं के घातक, विमलनाथ स्वामी! [**मां**] आप मुझे [**नशनात्**] इस जन्म-मरणरूप विनाश से [**अस्य**] दूर कीजिये, मेरे जन्म-मरण के दुःख को नष्ट कीजिये, [**येन**] जिससे [**न नो नये**] मैं भी पूजा को प्राप्त नहीं होऊँ, ऐसा नहीं, अतः पूजा को प्राप्त होऊँ - आपकी तरह उत्तम स्थान को (स्वात्मस्थितिरूप निर्वाणपद को) प्राप्त हो सकूँ।

इस चक्रश्लोक की चित्र-रचना इस प्रकार से है-

चित्र-४३ (चक्रश्लोक)

श्री अनन्तनाथ जिन

चिह्न – सेही

प्रथम गणधर – श्री अरिष्ट स्वामी

ॐ श्री अनन्त-जिन-स्तुतिः ॐ

(गूढस्वेष्टपादचक्रश्लोकः)

वर्णभार्यातिनन्द्याव वन्द्यानन्त सदारव ।
वरदातिनतार्य्याव वर्य्यातान्तसभार्णव ॥५४॥

अन्वयार्थ - [**वर्णभ!**] हे अनुपम सौन्दर्य से शोभायमान! [**आर्य्य!**] हे पूजनीय! [**अतिनन्द्य!**] हे सम्यक् प्रकार से समृद्ध अर्थात् अनेक ऋद्धियों से सम्पन्न! [**वन्द्य!**] हे सुर-असुरों के द्वारा वन्दनीय! [**सदारव!**] हे उत्तम सर्वभाषात्मक दिव्यवाणी के धारक! [**वरद!**] हे इच्छित वस्तु को प्रदान करने वाले! [**अतिनतार्य्याव!**] हे अत्यन्त नम्र साधु-पुरुषों की रक्षा करने वाले! [**वर्य्य**] हे श्रेष्ठ पुरुष! [**अतान्तसभार्णव**] हे अक्षुभित समवसरणरूप समुद्र से संयुक्त! [**अनन्त!**] तीर्थंकर अनन्तनाथ भगवान्! [**अव**] मेरी रक्षा करो।

इस पद्य में स्वेष्ट - इच्छित - पाद शेष तीन पदों में गूढ़ है तथा चक्रबद्ध चित्रालंकार भी है इसलिए इसको गूढस्वेष्टपादचक्रश्लोक कहते हैं। चक्रश्लोक की रचना इस प्रकार से है-

चित्र-४४ (चक्रश्लोक)

(गूढद्वितीयतृतीयान्यतरपादद्व्यक्षरमयश्लोकः)

नुन्नानृतोन्नतानन्त नूतानीतिनुताननः ।
नूतोनूनोनितान्तं ते नेतातान्ते निनौति ना ॥५५॥

अन्वयार्थ - [**नुन्नानृत**] नष्ट कर दिया है अनृत (असत्य) को जिसने, [**उन्नत!**] हे उन्नत (सर्वश्रेष्ठ)! [**अनन्त!**] हे अनन्तनाथ भगवान्! [**नूतानीति नुताननः**] सिद्ध-परमेष्ठी की स्तुति करने से जिनके मुख पूज्य गिने जाते हैं, [**नतः अनूनः**] और जो आपके चरणों में नम्र रहते हैं तथा परिपूर्ण हैं ऐसे [**नेता ना**] इन्द्र, चक्रवर्ती आदि समस्त नायक - प्रधान-पुरुष - भी [**अतान्ते**] मोक्षप्राप्ति के लिए, [**अनितान्तं**] बिना किसी क्लेश के, सहज स्वभाव से प्रेरित होकर, [**ते**] आपको [**निनौति**] नमस्कार करते हैं।

इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है- जो स्वयं नायक होगा वह अन्य को प्रणाम कैसे करेगा? और अन्य को प्रणाम करेगा तो वह नायक कैसे होगा? आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे भगवन्! आपको संसार के समस्त नायक नमस्कार करते हैं क्योंकि आप ही सर्वश्रेष्ठ हो और आपकी सर्वश्रेष्ठता का कारण यही है कि आपको नमस्कार करने से मोक्ष प्राप्त होता है।

इस श्लोक में द्वितीय और तृतीय पाद गुप्त है तथा नकार एवं तकार इन दो अक्षरों का ही इसमें अस्तित्व है। द्वितीय और तृतीय पाद गूढ़ होने से और केवल दो अक्षरों का ही प्रयोग होने से इसका नाम गूढद्वितीयतृतीयान्यतरपादद्व्यक्षरमयश्लोक है।

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो
विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता
त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥ (१४-१-६६)

क्योंकि आपने अनादिकाल से अन्तःकरण में विद्यमान अनन्त राग, द्वेष, मोह आदि दोषों के आधार मोहरूपी ग्रह (पिशाच) को तत्त्वरुचि में अथवा सम्यग्दर्शन में प्रसन्नता धारण करने के लाभ से जीत लिया था इसलिए आप 'अनन्तजित्' इस सार्थक संज्ञा को धारण करने वाले प्रभु कहलाते हैं।

श्री धर्मनाथ जिन

चिह्न - वज्र

प्रथम गणधर - श्री सेन (अरिष्टसेन) स्वामी

ॐ श्री धर्म-जिन-स्तुतिः ॐ

(गूढद्वितीयचतुर्थान्यतरपादोऽर्द्धभ्रमः)

त्वमवाध! दमेनर्द्ध मत धर्मप्र गोधन ।
वाधस्वाशमनागो मे धर्म! शर्मतमप्रद ॥५६॥

अन्वयार्थ - [**अवाध!**] हे बाधा (विनाश) रहित! [**दमेनर्द्ध!**] हे इन्द्रिय-दमन वा उत्तम-क्षमा से वृद्ध-परिपूर्ण! [**मतः!**] हे पूज्य! [**धर्मप्र!**] हे उत्तम क्षमादि धर्मों के पूरक वा धारक! [**गोधन!**] हे दिव्यध्वनि-रूप धन से सम्पन्न! [**अनागः!**] हे अपराध वा पापभाव से रहित! [**शर्मतमप्रद!**] हे उत्तम मोक्षसुख को प्रदान करने वाले! [**धर्म!**] हे धर्मनाथ भगवान्! [**त्वं**] आप [**मे**] मेरे [**अशं**] दुःखों को [**वाधस्व**] नष्ट करो।

आत्मीय सुखों में बाधा देने वाले द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नोकर्म से रहित होने से भगवान् अबाध हैं, अथवा ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय से होने वाली विनाशीक पर्यायों से रहित होने से विनाश रहित हैं। फिर भगवान् कैसे हैं- जिन्होंने इन्द्रियों का दमन कर महाऋद्धियाँ प्राप्त की हैं, अथवा जो क्षमादि धर्मों से परिपूर्ण हैं, दिव्यध्वनि रूप महान धन के धारक हैं, दोषों से रहित होने से निर्दोष हैं। भक्तजनों को उत्तम अविनाशी स्वात्मोपलब्धि रूप मोक्षसुख को देने वाले हैं।

ऐसे पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ भगवान्! मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप मेरे जन्म, जरा, मरण आदि सांसारिक रोग-दुःखों का नाश करो और मुझे अपने समान अविनाशी पद प्रदान करो।

इस श्लोक में द्वितीय अथवा चतुर्थ चरण में से कोई एक चरण अन्य चरणों के अक्षरों में गुप्त है। इसके सिवाय यह अर्धभ्रम भी है, इसलिए इसको गूढद्वितीयचतुर्थान्यतर-पाद अर्द्धभ्रम कहते हैं।

इस श्लोक के चारों चरणों को नीचे-नीचे फैलाकर लिखना चाहिये। चारों चरणों के प्रथम

और अन्तिम चार अक्षरों के मिलाने से श्लोक का प्रथम पाद बन जाता है। द्वितीय तथा उपान्त्य अक्षरों के मिलाने से श्लोक का द्वितीय पाद बन जाता है। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ पाद समझना चाहिये।

इसका चित्र इस प्रकार से है-

त्वमवाध! दमेनर्द्ध मत धर्मप्र गोधन ।
वाधस्वाशमनागो मे धर्म! शर्मतमप्रद ॥५६॥

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	त्व A1	म B1	वा C1	ध D1	द ↑	मे ↑	न ↑	र्द्ध ↑
B	म	त	ध	र्म	प्र	गो	ध	न
C	वा	ध	स्वा	श	म	ना	गो	मे
D	ध ↓	र्म ↓	श ↓	र्म ↓	त D2	म C2	प्र B2	द A2

चित्र-४५ (अर्द्धभ्रम)

(गतप्रत्यागतैकश्लोकः)

नतपाल! महाराज! गीत्यानुत ममाक्षर ।
रक्ष मामतनुत्यागी जराहा मलपातन! ॥५७॥

अन्वयार्थ - [**नतपाल!**] नम्र मनुष्यों के रक्षक! [**महाराज!**] हे महान् राजेश्वर, राजाओं के राजा! [**मम**] मेरे द्वारा [**गीत्यानुत!**] स्तुति से पूजित! [**अक्षर!**] हे अविनश्वर! [**अतनुत्यागी!**] महान् दानकर्ता एवं महान् वैभव के त्यागी! [**जराहा!**] बुढ़ापे से रहित! (अर्थात् जन्म-मरण, जरा आदि व्याधियों से रहित) [**मलपातन!**] ज्ञानावरणादि कर्ममल अथवा अज्ञानरूप मल के नाशक! हे भगवान् [**मां**] मेरी [**रक्ष**] रक्षा करो।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे धर्मनाथ भगवन्! आप चरणों में नम्रीभूत भक्तजनों की रक्षा करने वाले हैं। मेरे द्वारा स्तुति से पूजित हैं अर्थात् मैं आपकी अनेक स्तोत्रों के द्वारा स्तुति करता हूँ। मुझ शरणागत की रक्षा करो। मेरे संसार दुःखों का नाश करो।

इस श्लोक के पूर्वार्ध को विपरीत पढ़ने से उत्तरार्ध बन जाता है और उत्तरार्ध को विपरीत पढ़ने से पूर्वार्ध बन जाता है। यह अनुलोम-प्रतिलोम क्रम को लिये हुए है। अतः इसको अनुलोम-प्रतिलोमैक श्लोक अलंकार कहते हैं।

श्लोक का पूर्वार्ध-

न	त	पा	ल	म	हा	रा	ज	गी	त्या	नु	त	म	मा	क्ष	र

र	क्ष	मा	म	त	नु	त्या	गी	ज	रा	हा	म	ल	पा	त	न

यह इस श्लोक का उत्तरार्ध है।

चित्र-४६ (अनुलोम-प्रतिलोम श्लोक)

(मुरजबन्धः)

मानसादर्शसंक्रान्तं सेवे ते रूपमद्भुतम् ।
जिनस्योदयि सत्त्वान्तं स्तुवे चारूढमच्युतम् ॥५८॥

अन्वयार्थ - (मैं) [**ते**] आप [**जिनस्य**] जिनेन्द्र भगवान् के [**रूपं**] सौन्दर्य की [**सेवे**] सेवा करता हूँ, उपासना करता हूँ [**च**] और [**स्तुवे**] स्तुति करता हूँ जो [**मानसादर्शसंक्रान्तं**] (मेरे) मन रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रहा है, [**अद्भुतं**] अनुपम है (सब जीवों को आश्चर्य करने वाला है), [**उदयि**] सदा उदयरूप रहता है, [**सत्त्वान्तं**] उत्तमता की पराकाष्ठा है, [**आरूढं**] आरूढ़ है, और [**अच्युतं**] विनाशरहित है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

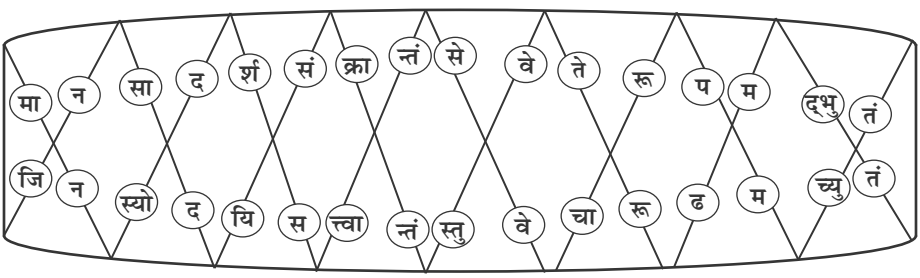

चित्र-४७ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

यतः कोपि गुणानुक्त्या नावाब्धीनपि पारयेत् ।
न तथापि क्षणाद्भक्त्या तवात्मानं तु पावयेत् ॥५९॥

अन्वयार्थ - [**यतः**] जैसे (कोई चाहे तो) [**नावा**] नौका के द्वारा [**अब्धीन्**] समुद्र को [**पारयेत् अपि**] भी पार करने में समर्थ हो सकता है, [**तु**] परन्तु [**कः अपि**] कोई भी [**तव**] आपके [**गुणान्**] गुणों का [**उक्त्या**] वचनों के द्वारा कथन करने में [**न**] समर्थ नहीं है; [**तथापि**] फिर भी [**क्षणात्**] क्षण-भर की आपकी [**भक्त्या**] भक्ति से [**आत्मानं**] (भक्तपुरुष) अपने आप को (अपनी आत्मा को) [**पावयेत्**] पवित्र कर लेता है।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे धर्मनाथ भगवन्! कदाचित् नाव के द्वारा समुद्र को पार करना संभव हो जाये परन्तु स्तुति रूपी वचनों के द्वारा आपके अनन्त गुणों का पार पाना असंभव है। अर्थात् यह निश्चित है कि आपके अनन्त गुणों का कथन करने में कोई भी समर्थ नहीं है। तथापि भव्य प्राणी आपकी भक्तिरूप शुभ भावना से अपनी आत्मा को क्षणभर में पवित्र बना लेते हैं, अशुभ कर्मों से रहित कर लेते हैं और परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। यह आपकी भक्ति का अचिन्त्य माहात्म्य है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

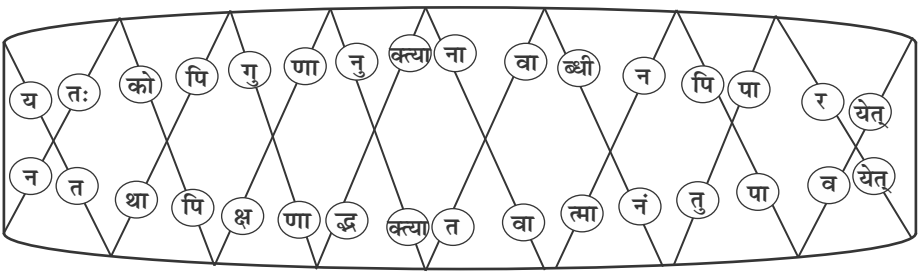

चित्र-४८ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

रुचं बिभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदनः ।
वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः ॥६०॥

अन्वयार्थ - [**नाथ!**] हे स्वामिन्! [**यथा**] जैसे [**स्पर्शवेदिनः**] पारसमणि के [**भजनात्**] स्पर्श करने से [**अयः**] लोहा [**सारं**] (सुवर्णरूप होकर) तेज को [**बिभर्ति**] धारण करता है (अत्यन्त श्रेष्ठ हो जाता है), वैसे ही [**ना**] भव्यपुरुष [**ते**] आप [**अतिस्पष्टवेदनः**] विशदज्ञानी (केवलज्ञानी) की [भजनात्] आराधना-सेवा से [सारं] परमतत्त्वभूत (केवलज्ञान सहित) होता हुआ [**वचः**] वचनों को (दिव्यध्वनि को) और [**धीरं**] गम्भीर [**रुचं**] तेज को [बिभर्ति] धारण करता है।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि जिस प्रकार पारसमणि के स्पर्श से लोहा सुवर्णरूप होकर तेज को धारण करता है तथा उसके फलस्वरूप अत्यन्त श्रेष्ठ हो जाता है, वैसे ही भव्य-पुरुष भी केवलज्ञानी धर्मनाथ भगवान् की सेवा, भक्ति-आराधना से सुस्थिर विशुद्ध वचन को तथा विशुद्ध आत्मीय तेज को धारण कर लेता है। अर्थात् धर्मनाथ भगवान् की भक्ति-आराधना से भव्य-पुरुष केवलज्ञान तथा दिव्यध्वनि को प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

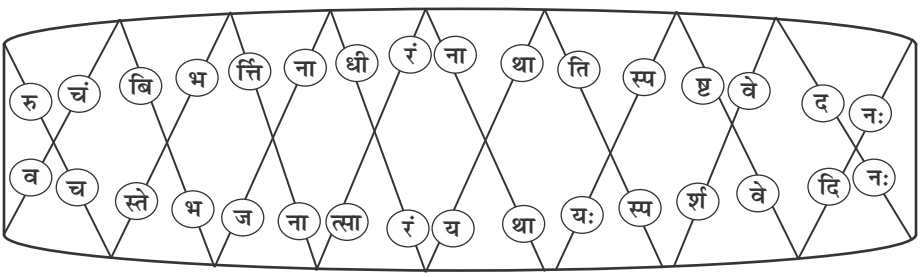

चित्र-४९ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां कल्याणेतः स्ववानतः ।
अप्यपूर्वार्थसिद्ध्येगां कल्याऽकृत भवान् युतः ॥६१॥

अन्वयार्थ - [**कल्य!**] हे समर्थशाली भगवन्! [**सर्वार्थसिद्धिं**] सर्वार्थसिद्धि नामक [**गां**] पृथिवी को [**प्राप्य**] प्राप्त करके (और फिर) [**कल्याणेतः**] गर्भ-जन्म आदि कल्याणकों के धारी होकर [**स्ववान्**] आप अपनी आत्मा में लीन रहने वाले बने (केवलज्ञानी बने)। [**अतः**] इसके बाद [**अपूर्वार्थसिद्ध्य**] अनन्त चतुष्टयरूप अपूर्वार्थ-सिद्धि से [**युतः**] सहित होते हुए [**अपि**] भी [**भवान्**] आपने [**इगां**] विहार [**अकृतः**] किया था।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि जिसके सारे मनोरथ पूर्ण हो चुके हों, अनेक कल्याणकों एवं मंगलों से सम्पन्न हो, धनवान् हो अर्थात् सर्वसुख-सम्पन्न हो, फिर भी वह भूतल पर भ्रमण कर उपदेश देने की चेष्टा करता हो तो उसमें उसका निजी प्रयोजन कुछ भी नहीं रहता। उसकी सारी चेष्टाएँ परोपकार के लिए ही होती हैं। आचार्य वसुनन्दी ने अपनी टीका में लिखा है- 'परार्था हि सतां चेष्टा' अर्थात् सत्पुरुषों की समस्त चेष्टाएँ परोपकार करने के लिए ही होती हैं। भगवान् के विहार करने से सत्पुरुषों का उपकार अवश्य होता है, परन्तु भगवान् किसी का उपकार करने की भावना से विहार नहीं करते हैं। भव्य जीवों के पुण्योदय से स्वयमेव ही भगवान् का विहार और उपदेश होता है।

इस श्लोक में 'सर्वार्थसिद्धि', 'कल्याण', 'स्व', और 'अपूर्वार्थ' ये पद श्लिष्ट हैं (द्विअर्थक हैं) जिनका समन्वय इस प्रकार से है-

भगवान् धर्मनाथ पूर्व में तपस्या करके सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त हुए थे। वहाँ से चयकर जब वे पृथिवी पर आने को उद्यत हुए तो देवों ने गर्भ-जन्म कल्याणक किये। जब भगवान् गर्भ में आने वाले थे, उसके छह माह पूर्व से जन्म तक (पन्द्रह मास तक) इन्द्र की आज्ञा से प्रतिदिन तीन बार, साढ़े तीन करोड़[1] की संख्या का परिमाण लिये हुए, रत्नों की वर्षा करके देवों द्वारा गर्भ-कल्याणकोत्सव मनाया गया। जन्म लेने पर इन्द्र ने मेरु पर्वत

1. देखें, **'हरिवंशपुराण'**, पृ. 471.

पर ले जाकर 1008 कलशों से भगवान् का अभिषेक किया; अनेक प्रकार से जन्मोत्सव मनाया। जब भगवान् संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेने के लिए तत्पर हुए तब इन्द्र ने तप-कल्याणकोत्सव सम्पन्न किया। जब तपश्चरण के द्वारा प्रभु ने घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया तब इन्द्र ने ज्ञान-कल्याणकोत्सव मनाया। कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की। इस प्रकार केवलज्ञानी, अनन्त-चतुष्टय के धनी, चतुष्कल्याणकों को प्राप्त, बिना इच्छा भगवान् ने इस भूतल पर विहार करके भव्य जीवों को धर्म का उपदेश दिया था। उसमें उनका निजी प्रयोजन कुछ भी नहीं था। केवल संसार के पथभ्रान्त जीवों को सुपथ पर लाने की भावना से बँधे हुए तीर्थंकर प्रकृति का उदय ही इसमें कारण था। वे इच्छा के मूलभूत मोहनीय कर्म का क्षय कर चुके थे। उनकी सारी क्रियाएँ मेघों के समान भव्य जीवों के पुण्य से प्रेरित होकर ही होती थीं।

आचार्य समन्तभद्र ने अपने अन्य ग्रन्थ **'रत्नकरण्डक-श्रावकाचार'** में कहा है-

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥

आप्त भगवान् राग के बिना, अपना प्रयोजन न होने पर भी, समीचीन भव्यजीवों को हित का उपदेश देते हैं क्योंकि बजाने वाले के हाथ के स्पर्श से शब्द करता हुआ मुरज (मृदंग) क्या अपेक्षा रखता है? अर्थात् कुछ भी नहीं।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां कल्याणेतः स्ववानतः ।
अप्यपूर्वार्थसिद्ध्येगां कल्याऽकृत भवान् युतः ॥६१॥

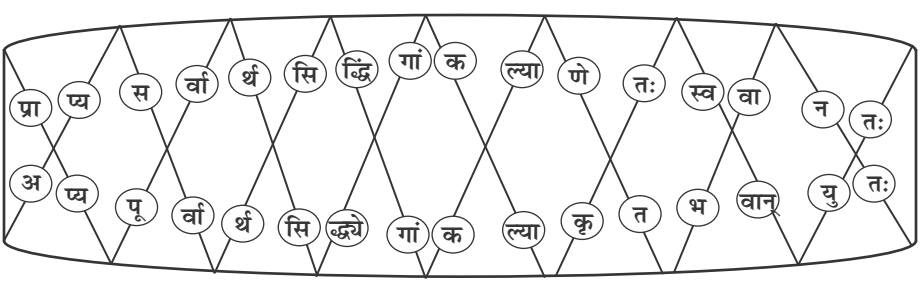

चित्र-५० (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

भवत्येव धरा मान्या सूद्यातीति न विस्मये ।
देवदेव पुरा धन्या प्रोद्यास्यति भुवि श्रिये ॥६२॥

अन्वयार्थ - **[देवदेव!]** हे देवों के देव त्रिलोक्याधिपति! **[भुवि]** इस भूतल पर **[भवति]** आपके **[सूद्याति]** जन्म लेने पर ही **[धरा मान्या]** यह पृथिवी पूजनीय हो जाती है, **[इति]** इसमें **[न विस्मये]** कुछ भी आश्चर्य नहीं है। **[प्रोद्यास्यति]** आपका जन्म होगा **[पुरा एव]** उसके पहले ही (यह पृथिवी) **[श्रिये]** श्री का निमित्त होने से अर्थात् उत्तमोत्तम रत्नों की वृष्टि कारण होने से **[धन्या]** धन्य गिनी जाने लगती है तथा लक्ष्मी से सम्पन्न हो जाती है।

जब तीर्थंकर भगवान् गर्भ में आते हैं उसके छह मास पहले से ही कुबेर सुन्दर नगरी की रचना करता है, उसे धन, धान्य, सुवर्ण, रजत आदि से सम्पन्न करता है, और पन्द्रह मास तक - जन्म के समय तक - प्रतिदिन रत्नों की वर्षा करता है। हे प्रभो! जब आपके उत्पन्न होने के पहले ही यह पृथिवी धन्य (उत्तम) हो जाती है तब आपके जन्म लेने से यह क्यों न धन्य मानी जायेगी? अवश्य मानी जायेगी।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

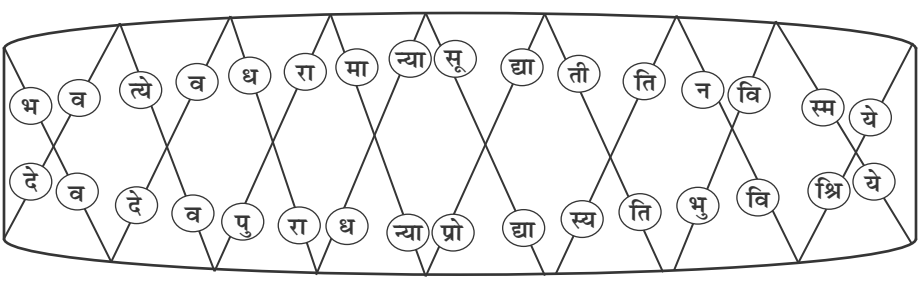

चित्र-५१ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

एतच्चित्रं पुरो धीर स्नपितो मन्दरे शरैः ।
जातमात्रः स्थिरोदार क्वापि त्वममरेश्वरैः ॥६३॥

अन्वयार्थ - [**धीर!**] हे धीर! [**स्थिर!**] हे स्थिर! [**उदार!**] हे उदार! (धर्मनाथ भगवान्!) [**त्वं**] आपके [**जातमात्रः**] उत्पन्न होते ही [**पुरः**] सर्वप्रथम [**अमरेश्वरैः**] सुर-असुर आदि सर्व देवों के द्वारा [**मन्दरे**] मेरु पर्वत पर [**शरैः**] क्षीरसमुद्र के जल से [**स्नपितः**] आपका अभिषेक किया गया - [**एतत्**] यह [**चित्रं**] आश्चर्य [**क्वापि**] किसी भी समय में, अन्यत्र कहीं पर भी (नहीं) देखा जाता है।

इस श्लोक में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने जो आश्चर्य व्यक्त किया है, उसके निम्न कारण हो सकते हैं- तत्काल में उत्पन्न हुआ बालक मेरु पर्वत पर ले जाया जावे और उस बालक का योजनों प्रमाण (बहुत विशाल) 1008 कलशों से अभिषेक किये जाने पर भी वह ज्यों का त्यों स्थिर रहे, यह आश्चर्य की बात है। अथवा, जिसके तीर्थ में - उपदिष्ट धर्म में - संसार के समस्त प्राणी स्नान करते हैं अर्थात् तदनुकूल आचरण कर आत्मकल्याण करते हैं उसका किसी दूसरे के द्वारा अभिषेक किया जाना आश्चर्य की बात है। अथवा, लोकोत्तर - सर्वश्रेष्ठ-प्रभावशाली - प्रभु का अभिषेक जल जैसे तुच्छ पदार्थ से किया जाये, यह आश्चर्य की बात है। अथवा, जो स्वयं शुद्ध है और अपनी पवित्रता से दूसरों को पवित्र करने वाला है उसको भी इन्द्र-जैसे बुद्धिमान पुरुषों ने अभिषेक द्वारा शुद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा की, यह बात आश्चर्य करने वाली है। अथवा, इन्द्र ने 'शर' से - तृण या बाण से - बालक-भगवान का अभिषेक किया, यह बात असंभव होने से आश्चर्यकारी है। (परिहार पक्ष में 'शर' का अर्थ 'जल' लिया गया है।)

श्लोक में आचार्य समन्तभद्र ने स्वयं ही आश्चर्य के इन कारणों का परिहार भगवान् के लिए 'धीर', 'स्थिर' और 'उदार' विशेषणों द्वारा किया है। यथा- हे भगवन्! आप इतने धीर और स्थिर हैं - इतने शक्तिशाली हैं - कि उत्पन्न होते ही निन्यानवे हज़ार योजन ऊँचे मेरु पर्वत पर 1008 कलशों से अभिषेक होने पर भी आपमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो पाया। आपका अतुल्य बल प्रशंसनीय है। हे प्रभो! आप इतने उदार हैं,

महान् हैं, कि अल्पज्ञों के द्वारा की हुई निःसार क्रियाओं से आपको रोष नहीं आता; आप अपनी अगाध क्षमता से सबको क्षमा कर देते हैं।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

एतच्चित्रं पुरो धीर स्नपितो मन्दरे शरैः ।
जातमात्रः स्थिरोदार क्वापि त्वममरेश्वरैः ॥६३॥

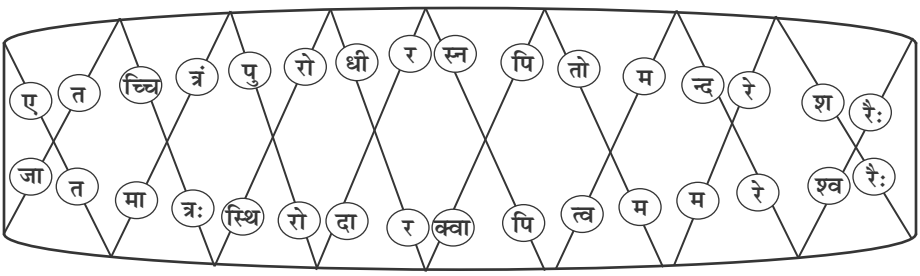

चित्र-५२ (मुरजबन्ध)

(अनन्तरपादमुरजः)

तिरीटघटनिष्ठ्यूतं हारीन्द्रौघविनिर्मितम् ।
पदे स्नातः स्म गोक्षीरं तदेडित भगोश्चिरम् ॥६४॥

अन्वयार्थ - [**भगोः!**] हे भगवन्! [**तदा**] अभिषेक करने के बाद जब (इन्द्रों के समूह ने) [**पदे**] आपके चरणों में [**ईडित**] नमस्कार किया था तब [**तिरीटघटनिष्ठ्यूतं**] उनके मुकुट-रूपी घट से निकला हुआ [**इन्द्रौघविनिर्मितं**] इन्द्रों के समूह से रचित, [**हारि**] शोभनीय [**गोक्षीरं**] किरण-रूपी दुग्ध प्रकट हुआ था, उसमें [**चिरं**] चिरकाल तक [**पदे**] आपके चरणों का [**स्नातः स्म**] स्नान हुआ था।

जन्माभिषेक हो चुकने के बाद इन्द्र-समुदाय जिस समय अभिषिक्त बालक-भगवान के चरणों में मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं उस समय उनके मुकुटों की शुक्ल किरणें बालक-भगवान के चरणों पर पड़ती हैं। उससे ऐसा प्रतीत होता है मानो बालक-भगवान के चरण इन्द्रों के मुकुट-रूपी घटों से झरते हुए किरण-रूपी दुग्धराशि में स्नान कर रहे हों। यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार[1] से वर्णन किया गया है। श्लोक में आया हुआ 'पदे' शब्द द्वितीय विभक्ति का द्विवचन भी है और चतुर्थी विभक्ति का एकवचन भी है, अतः चतुर्थ्यन्त मानकर पुनः आवृत्ति करने और 'चिरं' शब्द पर अधिक लक्ष्य देने से एक और विचित्र भाव प्रतीत होने लगता है।

इसमें रूपक अलंकार से क्षीरसमुद्र के जल और मुकुटों की किरणों में समानता बतलाई है। और उत्प्रेक्षा अलंकार में 'पदे' शब्द को चतुर्थी विभक्ति बनाकर आचार्यदेव ने सूचित किया है कि बालक-भगवान के चरण (पदे) मानो किसी उत्तम 'पद' को प्राप्त करने के लिए शरीर के अन्य अवयवों की अपेक्षा चिरकाल तक स्नान करते रहे हों। क्योंकि जो अपने आप को किसी अधिक उत्कर्ष को प्राप्त कराना चाहता है उसको दूसरे जनों की अपेक्षा अधिक तल्लीनता के साथ उस काम को करना होता है, यह स्वाभाविक बात है। बालक-भगवान के चरणों ने चिरकाल तक क्षीर-स्नान के द्वारा अपने आपको अत्यन्त

1. रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों की परिभाषाएँ क्रमशः श्लोक न. 42 और 46 के अन्तर्गत फुटनोट में दी जा चुकी हैं।

पवित्र बना लिया था इसीलिये मानो इन्द्र आदि लोकोत्तर पुरुष उनके चरणों को नमस्कार करते थे - हस्त, उदर और मस्तक आदि को नहीं।

इस श्लोक का अनन्तरपादमुरज-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

तिरीटघटनिष्ठ्यूतं हारीन्द्रौघविनिर्मितम् ।
पदे स्नातः स्म गोक्षीरं तदेडित भगोश्चिरम् ॥६४॥

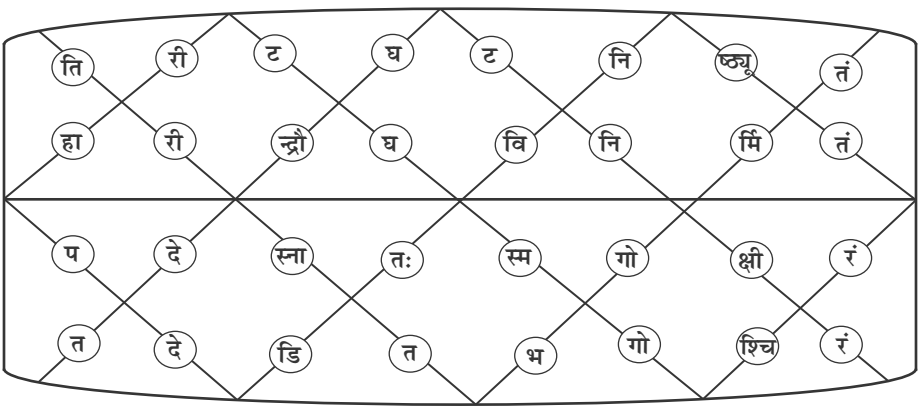

चित्र-५३ (अनन्तरपादमुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

कुत एतो नु सन्वर्णो मेरोस्तेपि च संगतेः ।
उत क्रीतोथ संकीर्णो गुरोरपि तु संमतेः ॥६५॥

अन्वयार्थ - [**नु**] भगवन्! हम लोगों को संशय है कि [**मेरोः**] मेरु पर्वत का यह [**सन्**] शोभनीय [**वर्णः**] वर्ण [**कुतः**] कहाँ से [**एतः**] आया है? [**अपि च ते संगतेः**] क्या यह आपकी संगति से हुआ है? [**उत**] अथवा [**क्रीतः**] मूल्य देकर खरीदा गया है? [**अथ**] अथवा [**संकीर्णः**] किसी अन्य मनोहर वस्तु का रूप उसमें संकीर्ण कर दिया गया है - मिला दिया गया है? [**अपि तु**] परन्तु अब हमें निश्चय हो गया है कि (मेरु का यह सुन्दर रूप) [**गुरो**] गुरु की [**संमतेः**] संमति से - आज्ञा मात्र से - हो गया है, किसी दूसरी जगह से नहीं आया है।

जिस सुदर्शन-मेरु पर्वत पर तीर्थंकर-बालक का अभिषेक हुआ था वह पर्वत सुवर्ण और रत्नों की कान्ति से अत्यन्त मनोहर था, सौन्दर्य की खान था। यहाँ आचार्यदेव भक्ति में विभोर होकर कहते हैं कि हे प्रभो! मेरे मन में संशय हो रहा है कि मेरु-पर्वत में वह सौन्दर्य कहाँ से आया? फिर वे बतलाते हैं कि मेरु-पर्वत का वह अत्यन्त सुन्दर रूप भगवान् धर्मनाथ की संमति से - आज्ञा से - ही हुआ था। जब आपकी संमति से - आज्ञा से - एक अचेतन पदार्थ भी सद्वर्ण-सुवर्ण या उत्तम रूप को पा सकता है तब आपकी आज्ञा से - आपके सम्यग्ज्ञान से अथवा आपके सम्यक् मनन, ध्यान या अनुभवन से - सचेतन प्राणी सद्वर्ण अर्थात् उत्तम रूप-धारी, उच्च-कुली या उत्तम यश-सहित हो जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? क्योंकि आप गुरु हैं, सर्वश्रेष्ठ, महान् या स्वामी हैं। अथवा आपकी संमति से सचेतन शिष्य सद्वर्ण को - उत्कृष्ट ज्ञान को - प्राप्त हो जायें तो क्या आश्चर्य है? क्योंकि आप गुरु हैं, उपाध्याय हैं। गुरु की संगति से शिष्य को क्या नहीं प्राप्त हो जाता?

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार अगले पृष्ठ पर दिया गया है-

कुत एतो नु सन्वर्णो मेरोस्तेपि च संगतेः ।
उत क्रीतोथ संकीर्णो गुरोरपि तु संमतेः ॥६५॥

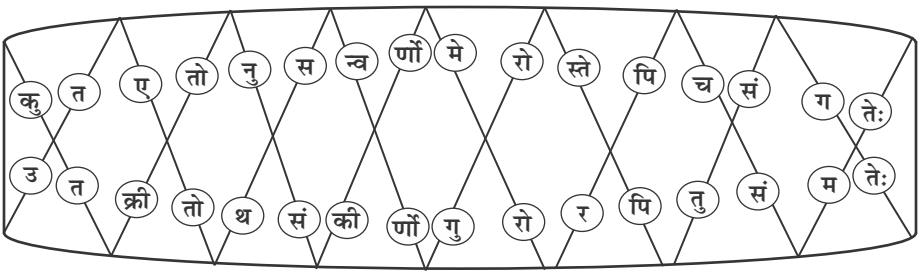

चित्र-५४ (मुरजबन्ध)

(अनन्तरपादमुरजः)

हृदि येन धृतोसीनः स दिव्यो न कुतो जनः ।
त्वयारूढो यतो मेरुः श्रिया रूढो मतो गुरुः ॥६६॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! **[येन]** जिस **[जनः]** भव्य-प्राणी ने आपको **[इनः]** स्वामी मान कर **[हृदि]** अपने हृदय में **[धृतः असि]** धारण किया हो **[सः]** वह **[दिव्यः]** पुण्यवान् **[कुतः न]** क्यों न होगा? अवश्य होगा। **[यतः]** क्योंकि **[मेरुः]** मेरु गिरिराज **[त्वया]** आपके द्वारा **[आरूढः]** आरूढ़ अथवा अधिष्ठित होने से ही **[श्रिया रूढः]** श्री (लक्ष्मी) से सम्पन्न और **[गुरुः]** महान् **[मतः]** माना जाता है।

मेरु पर्वत सुवर्ण और रत्नों से खचित होने के कारण लक्ष्मी-सम्पन्न और ऊँचा होने के कारण गुरु-महान् कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि हे भगवान्! मेरु पर्वत को यह महत्ता आपके ही अधिष्ठान से प्राप्त हुई है। तात्पर्य यह है कि जब आपके आश्रय से अचेतन पर्वत भी सम्पन्न और महान् हो सकता है तब सचेतन भव्य-प्राणी आपको हृदय में धारण कर इन्द्र आदि पद प्राप्त करता हुआ परम्परा से अनन्त-चतुष्टयरूप श्री से सम्पन्न होकर सब प्राणियों का गुरु - सर्वश्रेष्ठ - हो जावे, तो क्या कोई आश्चर्य है? कोई आश्चर्य नहीं है।

इस श्लोक का अनन्तरपादमुरज-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

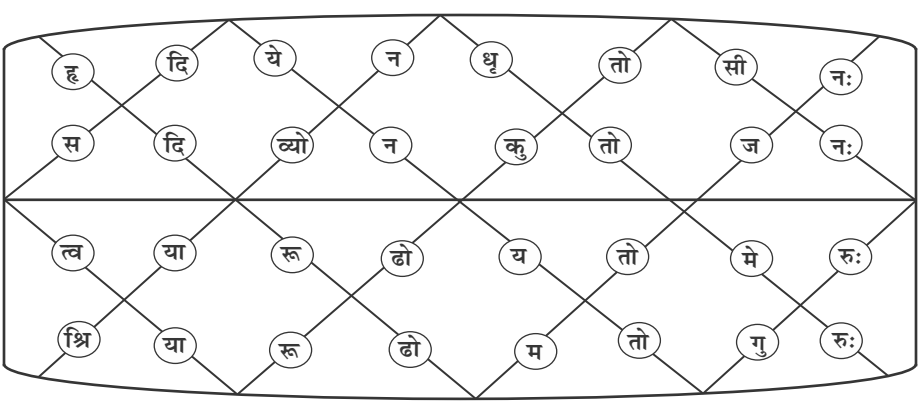

चित्र-५५ (अनन्तरपादमुरजबन्ध)

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन्
धर्म इत्यनुमतः सतां भवान् ।
कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः
शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः ॥ (१५-१-७१)

हे भगवन्! निर्दोष धर्मतीर्थ को प्रवर्तित करने वाले आप सत्पुरुषों के द्वारा 'धर्म' इस नाम के धारक माने गए हैं। तथा आपने तप-रूपी अग्नियों के द्वारा कर्म-रूपी वन को जलाया है और अविनाशी सुख को प्राप्त किया है इसलिए आप सत्पुरुषों के द्वारा 'शङ्कर' नाम से भी जाने गए हैं।

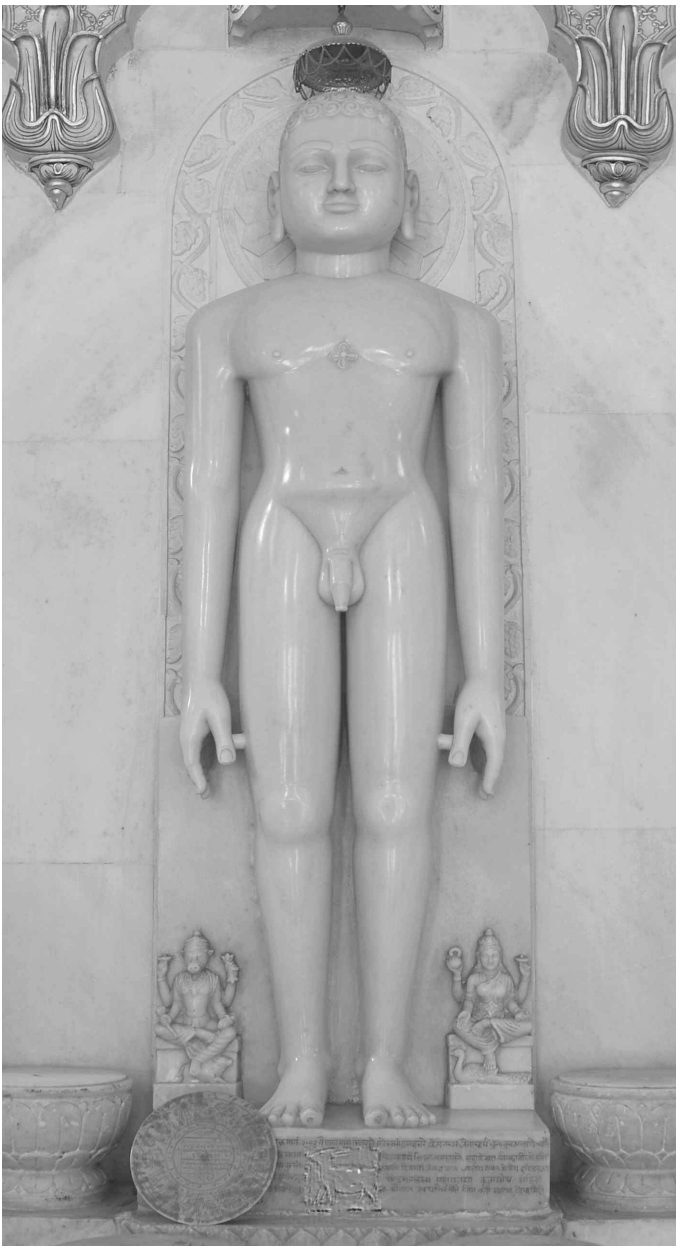

श्री शान्तिनाथ जिन

चिह्न – हरिण

प्रथम गणधर – श्री चक्रायुध स्वामी

ॐ श्री शान्ति-जिन-स्तुतिः ॐ

(मुरजबन्धः)

चक्रपाणेर्दिशामूढा भवतो गुणमन्दरम् ।
के क्रमेणेदृशा रूढाः स्तुवन्तो गुरुमक्षरम् ॥६७॥

अन्वयार्थ - [**चक्रपाणेः**] हे प्रभो! राज्य अवस्था में आप चक्रवर्ती ने चक्ररत्न हाथ में लेकर षट्खण्ड भरतक्षेत्र की दिग्विजय की थी। [**भवतः**] आपके [**गुरुं**] महान्, [**अक्षरं**] अविनाशी [**गुणमन्दरं**] गुणरूपी मेरु-पर्वत की [**ईदृशा**] इस प्रकार [**क्रमेण**] न्याय की परिपाटी से - मुरजबन्ध या चक्रवृत्त आदि स्तोत्रों से - [**स्तुवन्तः**] स्तुति करने वाले [**के**] कौन [**रूढाः**] प्रसिद्ध पुरुष [**दिशामूढा**] दिशाभूल होते हैं? अर्थात् कोई भी नहीं।

मेरु पर्वत हर एक जगह से उत्तर दिशा में पड़ता है, इसलिये जो मेरु पर्वत की ओर दृष्टि रखता है वह कभी दिशा नहीं भूल सकता - वह अपने इष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि भगवान् शान्तिनाथ के महान्, अविनाशी गुण भव्य जीवों के लिये मेरु पर्वत के समान हैं। तात्पर्य यह है जो भव्य जीव भगवान् शान्तिनाथ के गुणरूपी मेरु पर्वत की स्तुति करेगा वह सांसारिक कार्यों में उलझने पर भी अपने कर्त्तव्य-मार्ग को नहीं भूलेगा। वह अपने सबसे उत्तर - सबसे श्रेष्ठ - मार्ग को अनायास ही पा लेगा।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

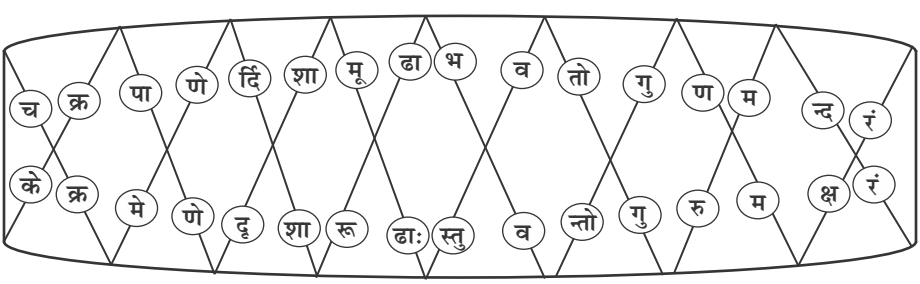

चित्र-५६ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

त्रिलोकीमन्वशास्सङ्गं हित्वा गामपि दीक्षितः ।
त्वं लोभमप्यशान्त्यङ्गं जित्वा श्रीमद्विदीशितः ॥६८॥

अन्वयार्थ - [**त्वं**] हे प्रभो! आप [**सङ्गं**] समस्त परिग्रह को और [**गां**] समस्त पृथिवी को [**हित्वा**] छोड़कर [**दीक्षितः**] दीक्षित हो गये थे - नग्न-दिगम्बर मुनि बन गये थे, फिर भी आपने [**त्रिलोकीं**] तीनों लोकों को [**अन्वशाः**] अनुशासित किया था - लोकत्रय के समस्त प्राणी आपके उपदिष्ट मार्ग पर चलते थे। (इसके सिवाय आपने) [**अशान्त्यङ्गं**] अशान्ति के कारणभूत [**लोभं**] लोभ को [**जित्वा**] जीत लिया था, [**अपि**] फिर भी आप [**श्रीमद्विदीशितः**] लक्ष्मीवान् और विद्वानों के ईश्वर (स्वामी) थे।

यहाँ आचार्य ने 'अपि' शब्द का प्रयोग करके विरोधाभास अलंकार से विरोध प्रकट किया है। लोक में देखा जाता है कि जो व्यक्ति जमीन, धन-धान्य, सेना आदि से संयुक्त होता है वही पृथिवी पर रहने वाले अपने कुछ आश्रितों पर शासन करता है। परन्तु आपने तो सारे सांसारिक परिग्रह का त्याग कर तथा नग्न-दिगम्बर मुद्रा धारण करके भी तीनों लोकों के समस्त प्राणियों को अनुशासित किया। यह विरोध प्रतीत होता है। इसका परिहार यह है कि- हे भगवन्! आपने मोक्षमार्ग का उपदेश देकर सारे जगत् के प्राणियों पर अनुशासन किया था। तीनों लोकों के प्राणी आपके द्वारा उपदिष्ट सन्मार्ग पर चलते हैं।

इसी प्रकार लोक में देखा जाता है कि जो लोभ और तृष्णा से सहित होता है वही धन-धान्यादिक लक्ष्मी का स्वामी बनता है। परन्तु आप तो लोभ को जीतकर भी लक्ष्मीवानों के ईश्वर बने, यह विरुद्ध बात है। इसका परिहार यह है कि- इस श्लोक में 'श्री' का अर्थ अनन्त-चतुष्टयरूप लक्ष्मी और समवसरण की विभूति से है।

अविनाशी केवलज्ञान को प्राप्त करने से आप विद्वानों के ईश्वर हैं, इसमें भी कोई विरोध नहीं है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

त्रिलोकीमन्वशास्सङ्गं हित्वा गामपि दीक्षितः ।
त्वं लोभमप्यशान्त्यङ्गं जित्वा श्रीमद्विदीशितः ॥६८॥

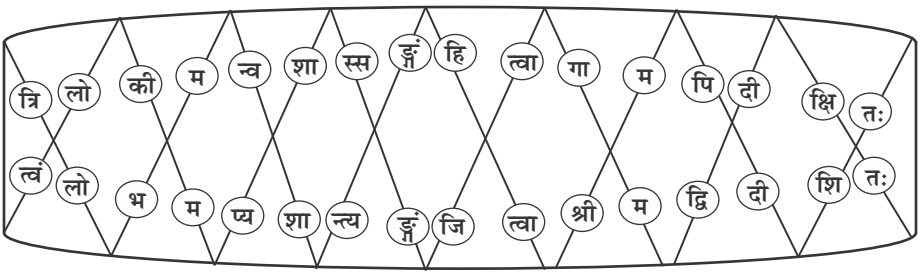

चित्र-५७ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्य महिमाधरम् ।
तव चाङ्गं क्षमाभूषलीलाधाम शमाधरम् ॥६९॥

अन्वयार्थ - [**केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्य**] हे केवलज्ञानरूप शरीर से आलिंगित तथा अनन्त बल से युक्त शान्तिनाथ जिनेन्द्र! [**तव**] आपका [**अङ्गं**] यह परमौदारिक शरीर [**महिमाधरं**] बड़ी महिमा को धारण करने वाला है, [**क्षमाभूषलीलाधाम**] क्षमारूप आभूषणों से अलंकृत है (उनकी लीला का घर है), [**च**] और [**शमाधरं**] शम-भाव (समता-भाव) का आधार है अथवा सौम्यरूप गौरव से युक्त है।

श्लोक में जो 'च' शब्द आया है उसका अर्थ अवधारण भी हो सकता है। जिससे इस श्लोक का यह भाव या अर्थ भी होता है कि- 'हे भगवान् शान्तिनाथ! महान् सौन्दर्य की खान! ऐसा क्षमारूप आभूषणों से अलंकृत तथा सौम्यरूप गौरव से युक्त शरीर आपका ही है, अन्य पुरुषों का नहीं है, अतः आप ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं, परमात्मा हैं।' यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि भगवान् शान्तिनाथ 'कामदेव' की पदवी के भी धारक थे।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

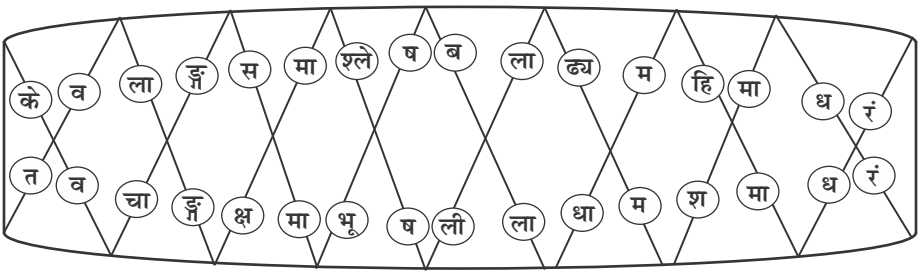

चित्र-५८ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

त्रयोलोकाः स्थिताः स्वैरं योजनेधिष्ठिते त्वया ।
भूयोन्तिकाः श्रितास्तेरं राजन्तेधिपते श्रिया ॥७०॥

अन्वयार्थ - [**अधिपते!**] हे स्वामिन्! [**त्वया**] आपके द्वारा [**अधिष्ठिते**] अधिष्ठित [**योजने**] योजन (साढ़े चार योजनमात्र समवसरण)[1] स्थान में [**त्रयोलोकाः**] तीनों लोकों के जीव [**स्वैरं**] स्वच्छन्दता के साथ [**स्थिताः**] बैठ जाते हैं। और जो [**भूयः**] बहुलता से आपके [**अन्तिकाः**] समीप आकर [**श्रिताः**] बैठते हैं, आपका आश्रय लेते हैं [**ते**] वे भव्य प्राणी आपकी [**श्रिया**] श्री से - उत्कृष्ट लक्ष्मी से अथवा आपके जैसे पद से - [**अरं**] शीघ्र ही [**राजन्ते**] सुशोभित होते हैं।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं- 'हे भगवान् शान्तिनाथ! जिस साढ़े चार योजन प्रमाण समवसरण में आप स्थित होते हैं उस समवसरण में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी असंख्यात देव, उनकी देवांगनाएँ, मानव, तिर्यञ्च आदि तीन लोक के जीव अपनी इच्छानुसार, किसी दूसरे का स्पर्श नहीं करते हुए, बैठ जाते हैं। इतने छोटे स्थान में भी कोई किसी को बाधा नहीं देते हैं। तथा हे जिनदेव! जो आपके समीप आकर आपका आश्रय लेते हैं, आपको अपने हृदयकमल में स्थापित करते हैं, आपके गुणों का चिन्तवन करते हैं, वे शीघ्र ही आप जैसी श्री से (लक्ष्मी से) सुशोभित होते हैं, अर्थात् आपका ध्यान करने वाले प्राणी शीघ्र ही आप सदृश परमात्म पद को प्राप्त कर लेते हैं।

---

1. यद्यपि श्लोक में 'योजने' यह सामान्य पद है तथापि 'द्वादशयोजनतस्ताः क्रमेण चाद्धार्धयोजनन्यूनाः। तावद्यावन्नेमिश्चतुर्थभागोनिताः परतः' (समवसरण स्तोत्रे, विष्णुसेनः) आदि प्रसिद्ध उल्लेखों से साढ़े चार योजनमात्र अर्थ लेना चाहिये।
भगवान् शान्तिनाथ का समवसरण साढ़े चार योजनमात्र इस प्रकार से आता है- भगवान् आदिनाथ का समवसरण बारह योजन प्रमाण था। उससे भगवान् नेमिनाथ पर्यन्त आधा-आधा योजन कम करना। भगवान् शान्तिनाथ का समवसरण साढ़े चार योजन प्रमाण हुआ। भगवान् पार्श्वनाथ के लिये योजन का चतुर्थ भाग कम करना। इसी प्रकार से भगवान् महावीर के लिये भी योजन का चतुर्थ भाग कम करना।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

त्रयोलोकाः स्थिताः स्वैरं योजनेधिष्ठिते त्वया ।
भूयोन्तिकाः श्रितास्तेरं राजन्तेधिपते श्रिया ॥७०॥

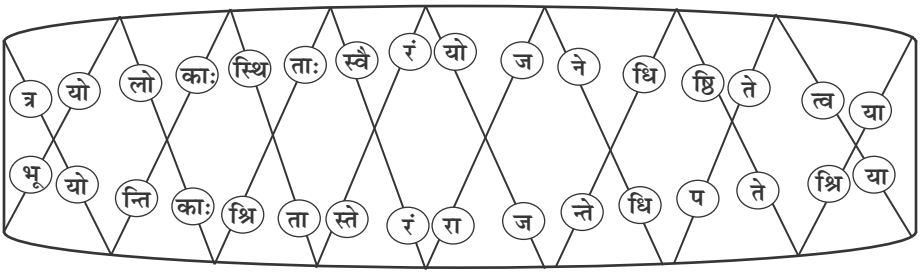

चित्र-५९ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

परान् पातुस्तवाधीशो बुधदेव भियोषिताः ।
दूराद्धातुमिवानीशो निधयोवज्ञयोज्झिताः ॥७१॥

अन्वयार्थ - [**बुधदेव!**] हे विद्वानों के देव, सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता, सर्वज्ञ! आप [**परान्**] अन्य समस्त प्राणियों के [**पातुः**] रक्षक और [**अधीशः**] स्वामी हैं। [**तव**] आपने [**निधयः**] जिन नव-निधियों[1] को [**अवज्ञया**] अवज्ञा से, अनादरपूर्वक, तुच्छ समझकर [**उज्झिताः**] छोड़ दिया था, वे निधियाँ [**हातुं**] आपको छोड़ने के लिये [**अनीशः**] असमर्थ हुई ही [**इव**] मानो [**भिया**] भय से [**दूरात्**] दूर-दूर [**उषिताः**] खड़ी हैं, निवास कर रही हैं।

भगवान् शान्तिनाथ तीर्थंकर और कामदेव पद के अलावा चक्रवर्ती पद के भी धारक थे। अतः राज्य-अवस्था में वे नव निधियों और चौदह रत्नों के भी स्वामी थे। जब वे संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेने लगे तब उन्होंने इन निधियों और रत्नों को अत्यन्त तुच्छ समझकर, बड़े अनादर के साथ छोड़ दिया था। तीर्थंकर के समवसरण में जो गोपुर-द्वार होते हैं उनके दोनों ओर अष्ट मंगल-द्रव्य और नौ निधियाँ रखी होती हैं। गोपुर-द्वार भगवान् के सिंहासन से काफी दूर होते हैं इसलिये वे निधियाँ भी भगवान् से दूर-दूर खड़ी हुई कही गयी हैं। यहाँ आचार्य समन्तभद्र उत्प्रेक्षा करते हैं कि भगवान् ने जिन निधियों को अनादर के साथ छोड़ दिया था वे ही निधियाँ अपना अन्य कोई रक्षक न देखकर तथा भगवान् को ही सबका (अपना भी) स्वामी समझकर उन्हें छोड़ना नहीं चाहती हैं। परन्तु उनके द्वारा अपने लिये पूर्व में किये गये अपमान को याद कर ही मानो वे गोपुर के बाह्य द्वार पर ही सहम कर रुक गई जान पड़ती हैं। वे भगवान् के दिव्य तेज से मानो डर गई थीं इसलिये उनसे दूर ही खड़ी थीं। जब कोई अपनी अच्छी सेवा करने वाले सेवक को छोड़कर दूसरे सेवकों को

1. चक्रवर्ती की ये नव-निधियाँ श्रीपुर में (अथवा नदी मुख में) उत्पन्न हुआ करती हैं- काल, महाकाल, पाण्डु, माणव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न। इन नौ निधियों में से प्रत्येक निधि क्रमशः ऋतु के योग्य द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, हर्म्य (महल), आभरण (हार-मुकुट आदि) और रत्नसमूहों को दिया करती है। (देखें, **'तिलोयपण्णत्ती-२'**, गा. 1396-1398, पृ. 401)

स्वीकार करता है और समर्थशाली है तो पुराने सेवक को रोष आना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार समर्थशाली भगवान् ने नौ निधियों को छोड़कर चौंसठ चँवर, सिंहासन, तीन छत्र आदि समवसरण की विभूतियों को स्वीकार किया, इसलिये रोष को प्राप्त हो वे निधियाँ बाहर खड़ी हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् इन निधियों की रक्षा का भार छोड़कर अन्यों की रक्षा करने लगे थे - पक्ष में सब जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर जन्म-मरण के दुःखों से उनको बचाने लगे थे। आचार्य ने 'परान् पातुः' और 'अधीशः' इन विशेषणों से भगवान् को रक्षक और स्वामी निर्दिष्ट किया है। साथ ही उत्प्रेक्षा अलंकार का सुन्दर प्रयोग करते हुए निधियों के द्वारा पुनः भगवान् की शरण में आने की तीव्र इच्छा को प्रकट किया है। ध्यान रखें कि उत्प्रेक्षा अलंकार में इसी प्रकार की कल्पनाएँ की जाती हैं।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

परान् पातुस्तवाधीशो बुधदेव भियोषिताः ।
दूराद्धातुमिवानीशो निधयोवज्ञयोज्झिताः ॥७१॥

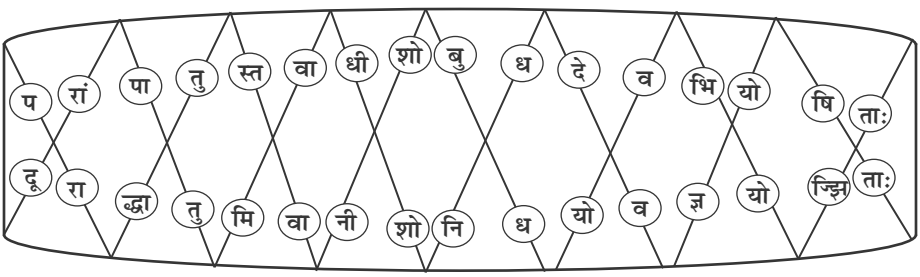

चित्र-६० (मुरजबन्ध)

(पादादियमकश्लोकः)

समस्तपतिभावस्ते समस्तपति तद्द्विषः ।
संगतोहीन भावेन संगतो हि न भास्वतः ॥७२॥

अन्वयार्थ - [**संगतोहीन!**] हे परिग्रहरहित भगवन्! यद्यपि [**ते**] आप में और [**भास्वतः**] सुर्य में [**समस्तपतिभावः**] समस्तपतिभाव अथवा सर्वस्वामित्व [**समः**] समानरूप से है, तथापि आप [**भावेन**] भावों से अथवा स्वभाव से [**संगतः न**] सूर्य के समान नहीं हैं [**हि**] क्योंकि [**तपति**] सूर्य तपता है, संताप देता है, परन्तु आप संताप नहीं देते हैं, शान्ति देते हैं, और [**तद्द्विषः**] सूर्य के शत्रु हैं, आपके शत्रु नहीं हैं - अर्थात् आपने रागादि शत्रुओं का नाश कर दिया है।

हे भगवन्! यद्यपि आप में और सुर्य में समस्तपतिभाव अथवा सर्वस्वामित्व की अपेक्षा से समानता है तथापि आप स्वभाव से सूर्य के समान नहीं हैं, अर्थात् सूर्य आपकी समानता धारण नहीं कर सकता है। क्योंकि आपने अपने कर्म-शत्रुओं को सर्वथा नष्ट कर दिया है इसलिये आप 'अहीनभावेन-संगतः' - उत्कृष्टता से सहित - हैं। परन्तु सूर्य के अन्धकार आदि शत्रु अब भी विधमान हैं - गुफा आदि तिरोहित स्थानों तथा रात्रि में अब भी अन्धकार का अस्तित्व है। इसलिये वह 'हीनभावेन-संगतः' - अनुत्कृष्टता से संगत है। साथ ही सूर्य ज्योतिष्क-देवों में सबसे उत्कृष्ट इन्द्र नहीं है, किन्तु प्रतीन्द्र है।

इसलिये आप 'समस्तपतिभावः' - समस्तपतिभाव की अपेक्षा - सूर्य के समान होने पर भी शत्रु-सद्भाव तथा हीनभाव की अपेक्षा उसके समान नहीं हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने व्यतिरेक अलंकार के द्वारा सूर्य और भगवान् शान्तिनाथ में परस्पर असमानता सिद्ध की है।

इस श्लोक के प्रथम पाद के 'समस्तपति' ये पाँच अक्षर द्वितीय पाद में भी हैं और तृतीय पाद के 'संगतोहीन भा' ये छह अक्षर चतुर्थ पाद में भी पुनरुक्त हैं, अतः यह पादादियमक श्लोक है।

(मुरजबन्धः)

नयसत्त्वर्त्तवः सर्वे गव्यन्ये चाप्यसंगताः ।
श्रियस्ते त्वयुवन् सर्वे दिव्यर्द्ध्या चावसंभृताः ॥७३॥

अन्वयार्थ - हे प्रभो! **[नयसत्त्वर्त्तवः]** नय, सत्त्व और ऋतु - द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आदि नय, नेवला-सर्प आदि सत्त्व (प्राणी) और वसन्त-ग्रीष्म आदि ऋतुएँ - **[च]** और **[अन्ये]** अन्य-अन्य **[अपि]** भी **[सर्वे]** सर्व **[असंगताः]** जो असंगत हैं (परस्पर विरोधी पदार्थ जो आपस में कभी नहीं मिलते) **[सर्वे]** वे सर्व नयादि पदार्थ **[ते श्रियः]** आपके माहात्म्य से **[तु अयुवन्]** एक साथ संगत हो गए थे (आपस के विरोध को भूल कर मिल गये थे) **[च]** और **[दिव्यर्द्ध्या]** कितने ही अन्य कार्य (अतिशय) देवों की ऋद्धि से **[अवसंभृताः]** निष्पादित किये गये थे।

द्रव्यार्थिक नय जिस वस्तु को नित्य बतलाता है, पर्यायार्थिक नय उसी वस्तु को अनित्य बतलाता है। व्यवहार नय जिन कार्यों को धर्म बतलाकर उपादेय कहता है, निश्चय नय उन्हीं कार्यों को अधर्म - आस्रव का कारण - बतलाकर हेय कहता है। इस प्रकार एकान्तवादियों के लिये नयों में परस्पर विरोध रहता है। हे भगवान् शान्तिनाथ! आप अनेकान्तवाद के प्ररूपक हैं और आपकी स्याद्वाद-वाणी में नयों के सारे विरोध दूर हो जाते हैं और वे मित्र की तरह परस्पर में सापेक्ष रहकर संसार के लिये कल्याणकारी हो जाते हैं। आचार्य समन्तभद्र अपने अन्य ग्रन्थ **'स्वयम्भूस्तोत्र'** में कहते हैं-

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥
(१३-१-६१)

ये जो नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि एकान्तरूप नय हैं वे परस्पर एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर अर्थात् स्वतन्त्र रह कर अपना व दूसरों का नाश करने वाले हैं। न तो कहने वाले का भला होता है न ही सुनने वाले का। परन्तु आप प्रत्यक्षज्ञानी व सर्व-दोषरहित विमलनाथ भगवान् के मत में वे ही नित्य-अनित्य

आदि नय एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुए अपना व दूसरों का उपकार करने वाले होकर यथार्थ तत्त्व स्वरूप होते हैं।

सर्प-नेवला, मृषक-मार्जार, गो-व्याघ्र, घोड़ा-भैंसा आदि ऐसे जानवर हैं जिनका जन्म से ही परस्पर वैर होता है, वे आपस में कभी नहीं मिलते। यदि कदाचित् मिलते भी हैं तो उनमें जो निर्बल होता है वह सबल के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। परन्तु हे जिनेन्द्रदेव! आपका सान्निध्य पाकर ये पशुगण जन्मजात विरोध को भूलकर परस्पर मैत्रीभाव धारण कर लेते हैं। वास्तव में आपका रूप इतना सौम्य, शान्तमय और आकर्षक है कि आपके पास विचरने वाले सर्व प्राणी आपस के वैर को छोड़कर परस्पर में प्रेम और प्रीति से विह्वल हो जाते हैं। आचार्यों ने लिखा भी है-

सारङ्गे सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं,
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गीम् ।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति,
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहं ॥

साम्यभाव पर आरूढ़, कालुष्यभाव से रहित, क्षीणमोही योगीजनों के आश्रय में रहकर हरिणी सिंह के बच्चे को, गाय व्याघ्र के बच्चे को, बिल्ली हंस के बच्चे को और मयूरी सर्पिणी को स्नेह के वश होकर पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है। अन्य भी जन्तु मदरहित होकर जन्मजात वैरभाव छोड़ देते हैं।

एक वर्ष में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर ये छह ऋतुएँ होती हैं। इनका समय क्रम से चैत्र-वैशाख, ज्येष्ठ-आषाढ़, श्रावण-भाद्रपद, आश्विन-कार्तिक, मार्गशीर्ष-पौष और माघ-फाल्गुन, इस तरह दो-दो मास का निश्चित है। वर्ष में मास परिवर्तन क्रमशः होता है अतः ऋतुओं का परिवर्तन भी क्रमशः होता है। एक साथ न मिलने के कारण ऋतुओं में परस्पर विरोध कहलाता है, परन्तु जिनेन्द्रदेव जहाँ विराजमान होते हैं वहाँ छहों ऋतुएँ एक साथ प्रकट हो जाती हैं, छहों ऋतुओं की छटा एक साथ बिखर जाती है। इसलिये आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि हे जिनेन्द्रदेव! आपके माहात्म्य से परस्पर विरोधी ऋतुएँ भी एक स्थान में, एक साथ, प्रकट हो जाती हैं।

इसके अलावा कुछ और अतिशय-चमत्कार भी जिनभक्त देवताओं के द्वारा प्रकट किये जाते हैं जिनका संक्षेप वर्णन इस प्रकार से है-

1. तीर्थंकरों के माहात्म्य से संख्यात योजनों तक वन-प्रदेश असमय में ही पत्रों, फूलों एवं फलों से परिपूर्ण-समृद्ध हो जाता है। 2. काँटों और रेती आदि को दूर करती हुई सुखदायक वायु प्रवाहित होती है। 3. जीव पूर्व वैर को छोड़कर मैत्रीभाव से रहने लगते हैं। 4. उतनी भूमि दर्पणतल सदृश स्वच्छ एवं रत्नमय हो जाती है। 5. सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करता है। 6. देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि सस्य की रचना करते हैं। 7. सब जीवों को नित्य आनन्द उत्पन्न होता है। 8. वायुकुमार देव विक्रिया से शीतल पवन चलाता है। 9. कूप और तालाब आदि निर्मल जल से परिपूर्ण हो जाते हैं। 10. आकाश धुआँ एवं उल्कापातादि से रहित होकर निर्मल हो जाता है। 11. सम्पूर्ण जीव रोग-बाधाओं से रहित हो जाते हैं। 12. यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों की भाँति उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्मचक्रों को देखकर मनुष्यों को आश्चर्य होता है। 13. तीर्थंकरों की चारों दिशाओं (विदिशाओं) में छप्पन स्वर्ण-कमल, एक पादपीठ और विविध दिव्य पूजन-द्रव्य होते हैं।[1]

श्लोक में जो 'च' शब्द है उसको अवधारणार्थक मानने से यह अर्थ ध्वनित होता है कि ऐसा माहात्म्य आपका ही है अतः सर्वतो महान् आप ही - आप जैसे ही - हैं, अन्य नहीं।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

नयसत्त्वर्त्तवः सर्वे गव्यन्ये चाप्यसंगताः ।
श्रियस्ते त्वयुवन् सर्वे दिव्यर्द्ध्या चावसंभृताः ॥७३॥

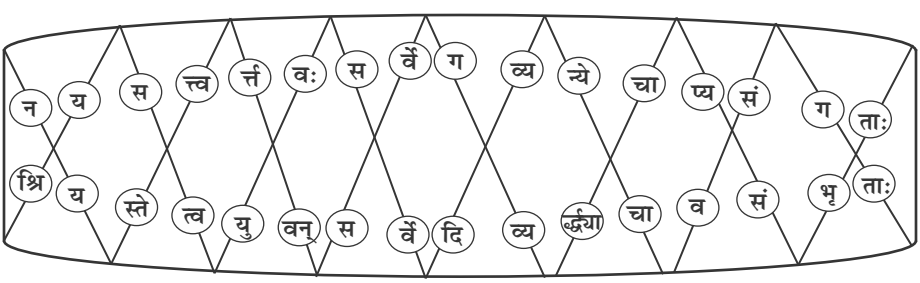

चित्र-६१ (मुरजबन्ध)

1. देखें, **'तिलोयपण्णत्ती-२'**, गा. 916-923, पृ. 280-281

(मुरजबन्धः)

तावदास्व त्वमारूढो भूरिभूतिपरंपरः ।
केवलं स्वयमारूढो हरिर्भाति निरम्बरः ॥७४॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! **[भूरिभूतिपरंपरः]** आप अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप अन्तरंग और अष्ट-प्रातिहार्यरूप बहिरंग विभूति से विभूषित हो। साथ ही **[निरम्बरः]** निरम्बर भी हो, अर्थात् दिगम्बर मुद्रा (वस्त्रशून्यता, निर्धनता) सहित हो। तथापि **[त्वं]** आप **[आरूढः]** जगत् में विख्यात हो। **[तावत् आस्व]** यह बात तो दूर रहे परन्तु **[केवलं स्वयं आरूढः हरिः]** यह निश्चित है कि आप जिस सिंहासन पर आरूढ़ (विराजमान) होते हो **[भाति]** वह सिंहासन भी अत्यन्त सुशोभित होने लगता है। सिंहासन की शोभा आपके विराजमान होने से बढ़ती है अतः आपके सुशोभित होने में कोई आश्चर्य नहीं है।

भगवान् शान्तिनाथ का शरीर वस्त्रशून्य था इसलिये लौकिक दृष्टि से उन्हें सम्पन्न कैसे कहा जाये? परन्तु वे अनन्तचतुष्टय-रूप सच्ची सम्पदा और अष्ट-प्रातिहार्य-रूप देवरचित विभूति से विभूषित थे अतः उन्हें असम्पन्न भी कैसे कहा जाये? इन दोनों विरुद्ध बातों के रहते हुए भगवान् शान्तिनाथ के सम्पन्न होने का निर्णय सिंहासन को देखकर हो जाता है। यह सिंहासन सुवर्ण-निर्मित तथा रत्नजड़ित होने पर भी जब भगवान् से रहित होता है तब इसकी सूर्यरहित उदयाचल की तरह प्रायः कुछ भी शोभा नहीं होती। और वही सिंहासन जब भगवान् से अधिष्ठित होता है तब उसकी शोभा ठीक उसी तरह बढ़ जाती है जिस तरह कि शिखर पर अरुण दिनकर (बालसूर्य) के आरूढ़ होने पर उदयाचल की शोभा बढ़ जाती है। इससे स्पष्ट है कि यदि भगवान् स्वयं सम्पन्न या सुशोभित नहीं होते तो उनके आश्रय से सिंहासन सम्पन्न या सुशोभित नहीं होता। इस बात से तर्क-प्रधान आचार्य समन्तभद्र को तुरन्त निर्णय हो जाता है कि वास्तव में भगवान् शान्तिनाथ अत्यन्त शोभायमान तथा सम्पन्न हैं। इस सिंहासन प्रातिहार्य की शोभा उनके उस सिंहासन पर आरूढ़ होने पर ही होती है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

तावदास्व त्वमारूढो भूरिभूतिपरंपरः ।
केवलं स्वयमारूढो हरिर्भाति निरम्बरः ॥७४॥

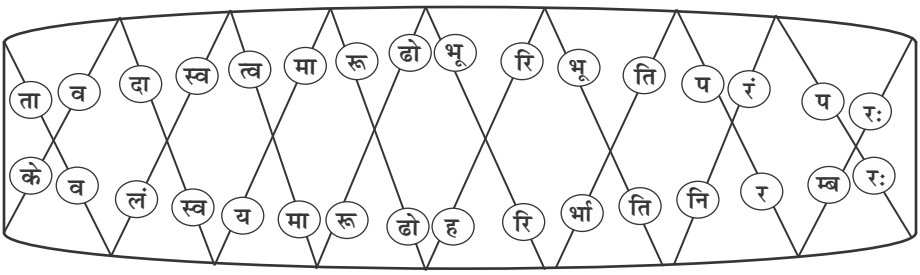

चित्र-६२ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

नागसे त इनाजेय कामोद्यन्महिमार्द्दिने ।
जगत्त्रितयनाथाय नमो जन्मप्रमाथिने ॥७५॥

अन्वयार्थ - **[इन!]** हे स्वामिन्! **[अजेय!]** हे अजेय! **[नागसे]** आप निष्पाप, अपराध-रहित हैं, **[कामोद्यन्महिमार्द्दिने]** काम की उद्यत (वृद्धि को प्राप्त) महिमा के घातक हैं, और **[जन्मप्रमाथिने]** जन्म-मरण-रूप संसार को नष्ट करने वाले हैं। अतः **[जगत्त्रितयनाथाय]** तीन लोक के नाथ शान्तिनाथ भगवान् **[ते]** आपको **[नमः]** नमस्कार हो।

हे प्रभुवर श्री शान्तिनाथ भगवान्! आप निष्पाप हैं, अपराध-रहित हैं, मन्मथ की बढ़ती ज्वाला की महिमा के घातक हैं अर्थात् कामविनाशक हैं, जन्म-मरण-रूप संसार परिभ्रमण के नाशक हैं। अतः हे तीन लोक के नाथ! आपको मेरा नमस्कार हो।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

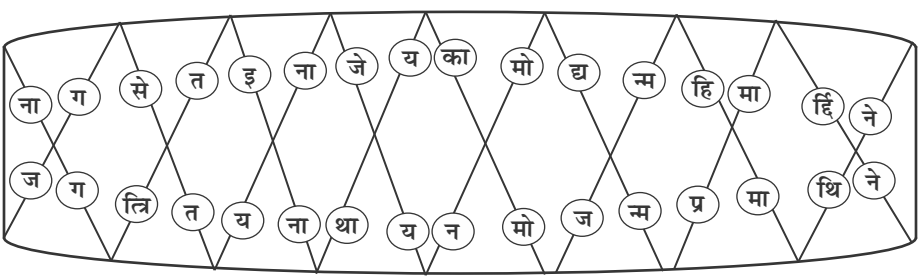

चित्र-६३ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः श्लोकयमकालंकारश्च)

रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने ।
योगख्यातजनार्चाय श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने ॥७६॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! **[रोगपातविनाशाय]** आप शारीरिक व्याधि रूप रोगों और कुत्सित-आचरणरूप पापों का नाश करने वाले हैं। **[तमोनुन्महिमायिने]** अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट कर देने से आपकी बड़ी महिमा है। **[योगख्यातजनार्चाय]** योगियों में विख्यात गणधरादि देव आपकी पूजा करते हैं। **[श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने]** आप श्रम - खेद-स्वेद आदि दोषों - का नाश करने वाले तथा मृदुत्व-दयार्द्रत्व भाव के धारक हैं। **[ते नमः]** आपके लिए नमस्कार हो।

शारीरिक-मानसिक पीड़ा व दुःख को रोग कहते हैं। अशुभ हिंसादि पापमय आचरणों से उपार्जित असाता आदि अशुभकर्मों को पातक कहते हैं। स्व-पर के उन रोग और पातक के विनाश करने वाले भगवान् रोगपातक-विनाशक कहलाते हैं।

'तम' का अर्थ अन्धकार है। आत्मीय ज्ञानज्योति को कलुषित करने वाला मिथ्यादर्शन भी 'तम' कहलाता है। उस अज्ञान और मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के नाशक को 'तमोनुत्' कहते हैं। तमोनुत् महिमा और पूजा को प्राप्त तमोनुन्महिमायी होते हैं।

यहाँ योग का अर्थ शुभध्यान (धर्मध्यान) है। योगियों में विख्यात गणधरादि देव के द्वारा पूजनीय होने से भगवान् योगख्यातजनार्च कहलाते हैं।

खेद-स्वेद आदि दोषों को 'श्रम' कहते हैं। जिन्होंने इन दोषों का नाश कर दिया है वे श्रमोच्छित् कहलाते हैं। 'मन्दिमा' का अर्थ मृदुत्व अथवा दयार्द्रचित्त है। जो श्रम का छेदक और दयाभाव से युक्त है उसको श्रमोच्छिन्मन्दिमासिन् कहते हैं।

ऐसे रोगपातक-विनाशक, तमोनुन्महिमा सम्पन्न, योगख्यातजनार्च तथा श्रमोच्छिन्मन्दिमासी भगवन्, आपके लिये नमस्कार हो। 'नमः' क्रिया का अध्याहार किया गया है।

यह मुरजबन्ध चित्रालंकार श्लोक है। श्लोक न. 77 के साथ एक समान न्यास होने से यह यमकालंकार भी है। इसका चित्र श्लोक न. 77 के अन्तर्गत दिया गया है।

(मुरजबन्धः श्लोकयमकालंकारश्च)

रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने ।
योगख्यातजनार्चायः श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने ॥७७॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! **[रोगपातविनाशाय]** आप तिरस्कार के घातक और संसार-पर्याय के नाशक हैं। **[तमोनुन्महिमायिने]** अलोकाकाश, चतुर्गतिभ्रमण के कारण कर्मपुञ्ज और षड्द्रव्यात्मक पृथिवीलोक के ज्ञाता हैं। **[अगख्यातजनार्चायः]** पर्वतों में विख्यात मेरु-पर्वत पर इन्द्रादि जनों के द्वारा पूजा को प्राप्त हैं। **[श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने]** क्लेश के विनाशक तथा जड़ता-मूर्खता का उच्छेद करने वाले हैं। **[यः]** जो ऐसे हैं, उनके लिए नमस्कार हो।

'रोगपात' का अर्थ है पराभव का नाश करना। जिसने संसार-पर्याय का नाश का दिया है वह रोगपातविनाश कहलाता है।
'तम' - अलोकाकाश, 'नुत्' - चतुर्गतिभ्रमण के कारण कर्मपुञ्ज, 'मही' - षड्द्रव्यात्मक पृथिवीलोक। तमोनुन्महिमायिने अर्थात् लोक-अलोक आदि सर्व द्रव्यों को जानने वाले।
'अग' - पर्वत। अगख्यातजनार्चाय अर्थात् पर्वतों में विख्यात मेरु-पर्वत पर इन्द्रादिक के द्वारा पूजा को प्राप्त।
'श्रमोच्छिन्मन्दिमासिने' - क्लेश तथा जड़ता-मूर्खता के उच्छेदक।

श्लोक न. 76 तथा इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

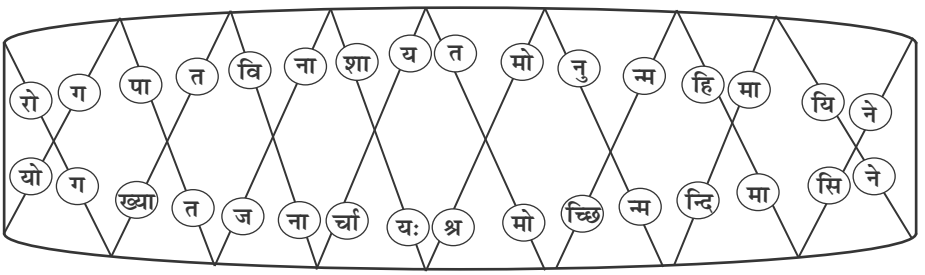

चित्र-६४ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

प्रयत्येमान् स्तवान् वश्मि प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये ।
नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये ॥७८॥

अन्वयार्थ - [**प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये**] नष्ट कर दी है दु:खी जीवों की महती पीड़ा को जिन्होंने, [**नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्त ध्वान्ताय**] नय और प्रमाण रूप वचनों की किरणों से नष्ट कर दिया है भव्य जीवों के अज्ञान अन्धकार को जिन्होंने, ऐसे [**शान्तये**] शान्तिनाथ भगवान् के लिए मैं [**इमान्**] इन [**स्तवान्**] स्तोत्रों को [**प्रयत्य**] प्रयत्नपूर्वक रचकर [**वश्मि**] प्रार्थना करता हूँ (स्तोत्रों की रचना करता हूँ)।

जो सारे जगत् की पीड़ा के नाशक हैं अर्थात् जिनका नाम उच्चारण करने से सारी आधि-व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं, जिनकी नय-प्रमाणरूप स्याद्वादात्मक वचनों की किरणों से अज्ञान-अन्धकार दूर हो जाता है, मैं उन शान्तिनाथ भगवान् के गुणों का व्याख्यान कर उनकी स्तुति करता हूँ।

भगवान् के अनेकान्तात्मक शासन में जीवादि पदार्थों के स्वभाव का सम्यक् प्रतिपादन नय तथा प्रमाणरूप स्याद्वादात्मक वचनों के द्वारा होता है। नय तथा प्रमाण किस प्रकार से जीवादि पदार्थों के स्वभाव का सम्यक् प्रतिपादन करने में समर्थ होते हैं इसकी सुन्दर व्याख्या आचार्य समन्तभद्र ने अपने एक अन्य ग्रन्थ **'स्वयम्भूस्तोत्र'** में की है-

विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः प्रमाणमत्रान्यतरत् प्रधानम् ।
गुणोऽपरो मुख्यनियामहेतुर्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥ (११-२-५२)

आपके दर्शन में स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्तिपना तथा परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिपना, ऐसा जो पदार्थों का अस्ति-नास्तिरूप एक काल में झलकने वाला ज्ञान है सो प्रमाण का विषय होने से प्रमाण कहलाता है। इन दोनों अस्ति व नास्ति धर्मों में से किसी एक को वक्ता के अभिप्राय से मुख्य करने वाला और दूसरे को गौण करने वाला एकदेश अथवा एक ही स्वभाव

को कहने वाला नय है। वह नय इन अस्ति व नास्ति दोनों धर्मों में से किसी एक को मुख्य करके बताने के नियम का साधक है। और वह नय दृष्टान्त का समर्थन करने वाला होता है अर्थात् जो धर्म वक्ता व्यक्त करना चाहता है उसका स्वरूप ठीक-ठीक दर्शाने वाला होता है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

प्रयत्येमान् स्तवान् वश्मि प्रास्तश्रान्ताकृशार्त्तये ।
नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये ॥७८॥

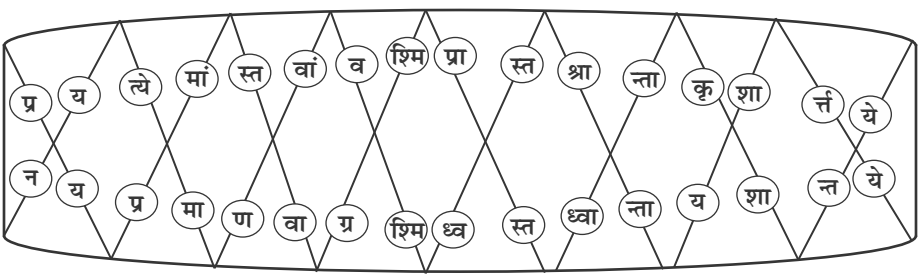

चित्र-६५ (मुरजबन्ध)

(सर्वपादमध्ययमकः)

स्वसमान समानन्द्या भासमान स मानघ ।
ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम् ॥७९॥

अन्वयार्थ - **[स्वसमान!]** हे स्वसमान! (अपने ही समान आप अर्थात् उपमा से रहित), **[अनघ!]** हे निष्पाप! **[भासमान!]** हे शोभायमान! (अनन्त चतुष्टयरूप तेज से देदीप्यमान!) **[सः]** वह (हे प्रभुवर!) **[ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं]** मेरा मानसिक उद्वेग यद्यपि नष्ट नहीं हुआ है तथापि नष्टमान के समान हो रहा है, **[आनतं]** मैं आपके चरणों में आनत हूँ - आपको मन-वचन-काय से नमस्कार करता हूँ। **[मा समानन्द्या]** मुझे अपने ही समान समृद्ध करो, अपने जैसी अवस्था मुझे प्रदान करो।

इस श्लोक में अनन्वयालंकार से भगवान् शान्तिनाथ के लिये 'स्वसमान' सम्बुद्धि विशेषण दिया है जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हे भगवन्! आप अपने ही समान हैं, अनुपम हैं, संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा आपको दी जा सके। दूसरों को समृद्ध-सम्पन्न करने में आप जैसा कोई समर्थ नहीं है इसी लिये मैं आपके पास आया हूँ। इसके अलावा, आप भासमान हैं - शोभायमान हैं - तथा हर प्रकार से निष्पाप हैं - द्वेष आदि से रहित हैं। मेरा चित्त संसार के दुःखों से उद्विग्न है। यद्यपि मेरे चित्त का त्रास अभी ध्वस्त नहीं हुआ है फिर भी नष्टप्रायः है। उसके पूर्णतः ध्वस्त होने में मेरी सहायता कीजिये। अब मुझे मेरी ज्ञान-दर्शनादिरूप आत्मीय सम्पदा से पूर्ण कीजिये।

यह सर्वपादमध्य यमकालंकार श्लोक है। 'स मा न स मा न' ये छह अक्षर चारों पादों में गर्भित हैं।

(मुरजबन्धः)

सिद्धस्त्वमिह संस्थानं लोकाग्रमगमः सताम् ।
प्रोद्धर्त्तुमिव सन्तानं शोकाब्धौ मग्नमंक्ष्यताम् ॥८०॥

अन्वयार्थ - हे शान्तिनाथ भगवान्! [**त्वं**] आप [**इह**] इस भूतल पर ही [**संस्थानं**] सिद्ध-योग्य संस्थान (आकार) से युक्त होकर [**सिद्धः**] सिद्ध अर्थात् कृतकृत्य हो चुके थे तथापि [**इव**] मानो [**शोकाब्धौ**] शोकसमुद्र में [**मग्नमंक्ष्यतां**] डूबे हुए और भविष्य में अनन्तकाल तक डूबने वाले [**सतां**] भव्य जीवों के [**सन्तानं**] समूह को [**प्रोद्धर्त्तुं**] उससे उद्धर्तृ करने के लिये ही [**लोकाग्रं**] लोक के अग्रभाग-रूप उत्तम स्थान पर (सिद्धशिला पर) [**अगमः**] विराजमान हो गये।

आत्मा की सब कर्मों से छूटने की अवस्था को ही सिद्ध, मुक्त अथवा कृतकृत्य अवस्था कहते हैं। जब आत्मा से सब कर्मों का बन्धन छूट जाता है तब वह एक समय मात्र में त्रिलोक के ऊपर सिद्धशिला पर पहुँच जाती है। हे शान्तिनाथ भगवान्! इस मध्यलोक में ही आपकी आत्मा से सर्व कर्मों का बन्धन छूट गया था; आपको सिद्ध अवस्था यहीं पर प्राप्त हो चुकी थी। फिर भी आत्मा का तथागति स्वभाव होने से आप त्रिलोक के अग्रभागरूप स्थान सिद्धशिला पर जाकर विराजमान हुए थे। यहाँ आचार्य समन्तभद्र उत्प्रेक्षा अलंकार से वर्णन करते हैं कि भगवान् शान्तिनाथ का तीन-लोक के अग्रभागरूप उच्च स्थान पर जो विराजमान होना है वह मानो दुःखरूपी समुद्र में डूबे हुए अथवा डूबने वाले जीवों का आगे आने वाले समय में भी उद्धार करने के लिये ही है। यह बात सर्वविदित है कि कूप या तालाब के ऊपर तट पर बैठा हुआ पुरुष ही उनमें पड़े हुए जीवों को रस्सी आदि के द्वारा बाहर निकालने में समर्थ होता है। स्वयं नीचे स्थान में रहकर दूसरों को कूप, नदी या तालाब आदि से नहीं निकाला जा सकता। श्लोक का सारांश यह है कि भगवान् शान्तिनाथ को मुक्त हुआ देखकर अन्य जीव भी अपने आप को मुक्त करने का प्रयत्न करते हैं।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

सिद्धस्त्वमिह संस्थानं लोकाग्रमगमः सताम् ।
प्रोद्धर्त्तुमिव सन्तानं शोकाब्धौ मग्नमंक्ष्यताम् ॥८०॥

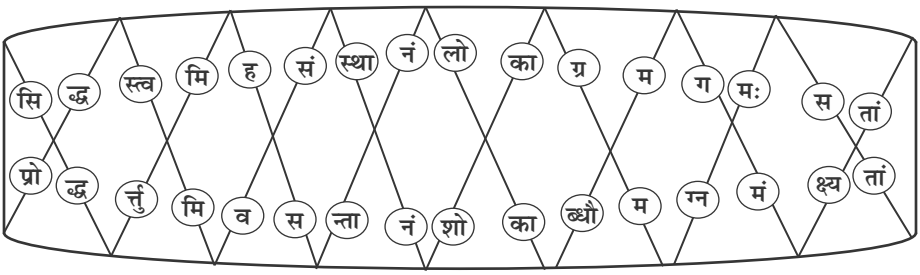

चित्र-६६ (मुरजबन्ध)

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

राजश्रिया राजसु राजसिंहो
रराज यो राजसुभोगतन्त्रः ।
आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो
देवासुरोदारसभे रराज ॥ (१६-३-७८)

जो (श्री शान्तिनाथ भगवान्) परम प्रतापशाली राजाओं के महा-मनोहर भोगों के भोगने में स्वाधीन होते हुए राजाओं के मध्य में चक्रवर्ती पद की राज्यलक्ष्मी से सुशोभित हुए थे, फिर मोह का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर आत्माधीन होकर सुर-असुरों की विशाल समवसरण सभा में आर्हन्त्य लक्ष्मी से सुशोभित हुए थे।

श्री कुन्थुनाथ जिन

चिह्न - अज (बकरा)

प्रथम गणधर - श्री स्वयंभू स्वामी

ॐ श्री कुन्थु-जिन-स्तुतिः ॐ

(सर्वपादान्तयमकः)

कुन्थवे सुमृजाय ते नम्रयूनरुजायते ।
ना महीष्वनिजायते सिद्धये दिवि जायते ॥८१॥

अन्वयार्थ - [**अनिज!**] हे जन्म-मरण से रहित कुन्थुनाथ भगवान्! [**सुमृजाय**] आप अत्यन्त शुद्ध हैं। [**ते**] आप [**कुन्थवे**] कुन्थुनाथ भगवान् को [**नम्रः**] नमस्कार करने वाला [**ना**] पुरुष [**महीषु**] पृथिवी-लोक में [**ऊनरुजायते**] सब तरह के रोगों से रहित होता है और [**सिद्धये**] (परलोक में) मोक्ष के लिये [**अयते**] गमन करता है, अथवा [**दिवि**] स्वर्ग में [**जायते**] उत्पन्न होता है।

हे कुन्थुनाथ भगवान्! आप अत्यन्त शुद्ध हैं अतः जो पुरुष द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित होने के लिये आपको नमस्कार करते हैं वे इस भूतल पर रोगरहित हो जाते हैं। उनकी आधि-व्याधि नष्ट हो जाती है। तथा परलोक में मोक्षपद अथवा स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। इस श्लोक में 'जायते' पद की सर्व-पदों में पुनः पुनः आवृत्ति करनी चाहिये। अर्थात् जो जन्म-मरण से रहित कुन्थुनाथ भगवान् को नमस्कार करते हैं वे रोगों से रहित हो जाते हैं, स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं और अन्त में सर्व कर्मों का नाश कर मुक्ति-पद को प्राप्त करते हैं।

यह श्लोक सर्वपादान्त-यमक है। इसके चारों पादों के अन्त में एक ही शब्द 'जायते' का प्रयोग किया गया है।

(मुरजबन्धः)

यो लोके त्वा नतः सोतिहीनोप्यतिगुरुर्यतः ।
बालोपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरुः कुतः ॥८२॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! आप सब जीवों को आश्रय देने में समर्थ हैं। **[लोके]** इस लोक में **[यः]** जो पुरुष **[त्वा]** आपको **[नतः]** नमस्कार करता है - सब प्रकार से आपका आश्रय ले लेता है, **[सः]** वह **[अतिहीनः अपि]** अत्यन्त हीन - निकृष्ट अथवा नीच - होने पर भी **[अतिगुरुः]** अतिगुरु - अतीव श्रेष्ठ अथवा उच्च - हो जाता है। **[यतः]** जब यह बात है तब हे प्रभो! **[कः]** ऐसा कौन **[बालः अपि]** मूर्ख अथवा **[नीतिपुरुः]** नीतिज्ञ (बुद्धिमान्) मनुष्य होगा जो **[त्वा]** आपको **[नौति]** नमस्कार कर **[श्रितं]** आपके आश्रय अथवा शरण में **[कुतः नः]** आना न चाहेगा? प्रायः कोई भी ऐसा नहीं हो सकता जो आपका यथार्थ परिचय पाकर भी आपकी शरण में न आवे अर्थात् आपको नमस्कार न करे।

जिस कार्य का लाभ प्रत्यक्ष दीखता हो, बुद्धिमान् मनुष्य उसे अवश्य ही करते हैं। आचार्यदेव ने इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार में कथन किया है। श्लोक में कहा गया है कि जो मनुष्य अतिहीन अथवा अतिनीच है वही अतिगुरु अथवा अतिउच्च हो जाता है। शंका होती है कि यह कैसे हो सकता है? इस प्रकार से विरोध प्रकट होता है।

परन्तु महापुरुषों के आश्रय से विरुद्ध दिखाई देने वाली बात भी अनुकूल हो जाती है और इस तरह से उस विरोध का परिहार हो जाता है।

हे कुन्थुनाथ भगवान्! यह आपकी महिमा ही है कि आपको नमस्कार करने से अथवा आपकी शरण में आने से अतिहीन अथवा अतिनीच मनुष्य अतिगुरु अथवा अतिउच्च हो जाता है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

यो लोके त्वा नतः सोतिहीनोप्यतिगुरुर्यतः ।
बालोपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरुः कुतः ॥८२॥

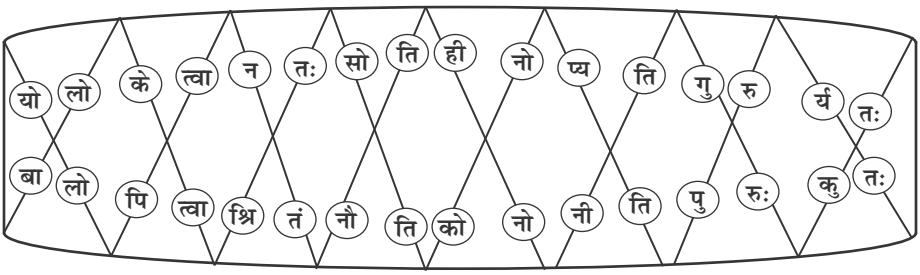

चित्र-६७ (मुरजबन्ध)

(गतप्रत्यागतभागः)

नतयात विदामीश शमी दावितयातन ।
रजसामन्त सन्देव वन्देसन्तमसाजर ॥८३॥

अन्वयार्थ - [**नतयात!**] हे नम्र मनुष्यों के द्वारा प्राप्य - ज्ञातव्य! [**विदामीश!**] हे ज्ञानियों के स्वामी - केवलज्ञानी! [**दावितयातन!**] हे दुःखों के नाशक! [**रजसामन्त!**] हे पापरूपी रज (धूलि) का शमन करने वाले! [**देव!**] हे परमात्मन्! [**असन्तमस!**] हे अज्ञानशून्य! [**अजर!**] हे जन्म-मरण और जरा रहित! मैं [**शमी**] अत्यन्त शान्त [**सन्**] होता हुआ [**वन्दे**] आपको नमस्कार करता हूँ।

हे कुन्थुनाथ भगवान्! आप भक्तजनों के द्वारा जानने योग्य हैं, अर्थात् आपका वास्तविक स्वरूप - द्रव्य, गुण, पर्याय - आपको जानने वाले सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त कर सकते हैं। भगवन्! आप ज्ञानीजनों के स्वामी हैं अथवा आप सम्यग्ज्ञानियों में शिरोमणि केवलज्ञानी हैं। स्वामिन्! आप ही शरण में आने वाले भव्य प्राणियों के दुःख को दूर करने वाले हैं - आपने स्वकीय असाता वेदनीय कर्म का नाश कर स्वयं के दुःखों का नाश कर दिया है, आप घातिया कर्मरूप पापों के विदारक हैं तथा अनन्त सुख से सम्पन्न हैं। हे प्रभो! आप अज्ञानरहित, अनन्तज्ञान युक्त हैं। प्रभुवर! आप जन्म-मरण और जरा रूप रोग से रहित हैं। हे जिनेन्द्र! मैं अत्यन्त शान्त स्वभाव में लीन होता हुआ आपकी वन्दना, स्तुति, पूजा करता हूँ। अपनी कषायों को शान्त करता हुआ आपके चरण-कमलों में नतमस्तक हूँ। भगवन्! मेरे कषायरूप विभाव-भावों का नाश हो जावे तथा मैं स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि को प्राप्त करूँ, यह शक्ति मुझे प्रदान करो।

इस श्लोक की रचना गतप्रत्यागतार्द्धभाग में है, अर्थात् दोनों पंक्तियों के अर्धभाग को पंक्त्याकार से लिखकर क्रमपूर्वक पढ़ना चाहिये। पहली पंक्ति के अर्धभाग को क्रम से पढ़ने में जो अक्षर आते हैं, वे अक्षर विपरीत क्रम - दूसरी ओर - से पढ़ने में पंक्ति का उत्तरार्धभाग बना देते हैं। दूसरी पंक्ति में भी यही नियम लागू होता है। (श्लोक न. 10 भी देखें।)

इस श्लोक का चित्रण इस प्रकार से है-

नतयात विदामीश शमी दावितयातन ।
रजसामन्त सन्देव वन्देसन्तमसाजर ॥८३॥

श्लोक की प्रथम पंक्ति का प्रथमार्धभाग–

न	त	या	त	वि	दा	मी	श

इन अक्षरों को विपरीत क्रम से लिखें–

श	मी	दा	वि	त	या	त	न

यह इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का उत्तरार्धभाग है।

श्लोक की द्वितीय पंक्ति का प्रथमार्धभाग–

र	ज	सा	म	न्त	स	न्दे	व

इन अक्षरों को विपरीत क्रम से लिखें–

व	न्दे	स	न्त	म	सा	ज	र

यह इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति का उत्तरार्धभाग है।

चित्र-६८ (गतप्रत्यागतभाग)

(बहुक्रियापद-द्वितीयपादमध्ययमकाऽतालुव्यञ्जनाऽवर्णस्वर-गूढद्वितीयपाद सर्वतोभद्र-गतप्रत्यागताऽर्द्धभ्रमः)

पारावाररवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।
वामानाममनामावारक्षमर्द्धर्द्धमक्षर ॥८४॥

अन्वयार्थ - हे प्रभो! [**पारावाररवार**] आपकी दिव्यध्वनि समुद्र की गर्जना के समान अत्यन्त गम्भीर है। [**क्षमाक्ष**] आप सर्व पृथिवी पर व्याप्त हैं अर्थात् सारे प्रमेय (पदार्थ) आपके ज्ञान में व्याप्त हैं। [**वामानां**] आप पापों के [**अमन**] नाश करने वाले हैं। [**ऋद्ध**] ज्ञानादि गुणों से वृद्ध हैं। [**अक्षर**] क्षय-रहित हैं। [**क्षमा**] आपकी क्षमा [**अपारा**] अपार और [**अक्षरा**] अविनाशी है। इसलिये आप [**मा**] मुझ [**ऋद्धं**] वृद्ध को भी [**अम**] प्रसन्न कीजिये, [**अव**] सुशोभित कीजिये तथा [**आरक्षं**] पालित कीजिये।

यहाँ आचार्य ने भगवान् कुन्थुनाथ से तीन बातों की प्रर्थना की है- आप मुझ वृद्ध को प्रसन्न कीजिये, सुशोभित कीजिये तथा पालित कीजिये। भगवान् की उक्त तीन बातों को पूर्ण करने की सामर्थ्य बतलाने के लिये उन्होंने उसके अनुकूल ही विशेषण दिये हैं। यथा- हे प्रभो! आपकी दिव्यध्वनि समुद्र की ध्वनि के समान अत्यन्त सारगर्भित होती थी, जिसे सुनकर समस्त प्राणी आनन्द-लाभ करते थे; अतः आप मुझे भी अपनी दिव्यध्वनि से प्रसन्न कीजिये। हे भगवन्! आप सब पदार्थों को जानने वाले हैं, आपकी आत्मा ज्ञानगुण से अत्यन्त सुशोभित है; अतः आप मुझे भी सुशोभित कीजिये - ज्ञानगुण से अलंकृत कीजिये। हे भगवान्! आप वामों-दुष्टों अथवा पापों को उखाड़कर नष्ट करने वाले हैं - साधुपुरुषों के रक्षक हैं। अतः आप मेरी भी रक्षा कीजिये, मुझे भी इन दुष्ट पापकर्मों से बचाईये। आप मेरे अपराधों पर दृष्टिपात न कीजिये; आपकी क्षमा अपार है अथवा आप में उक्त बातों को पूर्ण करने की अपरिमित सामर्थ्य है।

यहाँ आचार्य ने अपने लिये 'ऋद्ध' विशेषण दिया है जिसका अर्थ संस्कृत टीकाकार ने 'वृद्ध' किया है। इससे ज्ञात होता है कि यह रचना आचार्य समन्तभद्र की वृद्ध अवस्था की है।

इस श्लोक की अद्‌भुत रचना की विशेषताएँ इस प्रकार से है- श्लोक में 'अम', 'अव', 'रक्ष' इन तीन क्रिया-पदों के होने से यह 'बहुक्रियापद' है। द्वितीय पाद में 'क्षमाक्ष' पद की आवृत्ति होने से द्वितीयपाद मध्य-यमक है। तालुस्थानीय इ-वर्ण (इ ई), च-वर्ग (च छ ज झ ञ), य और श अक्षरों के न होने से अतालुव्यञ्जन है। केवल अवर्ण (अ आ) स्वर के होने से 'अवर्णस्वर' है। प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पाद में द्वितीय पाद के गुप्त होने से 'गूढद्वितीयपाद' है। सब ओर से एक समान पढ़े जाने के कारण 'सर्वतोभद्र' है। क्रम और विपरीत क्रम से पढ़े जाने के कारण 'गत-प्रत्यागत' है। और अर्द्धभ्रमरूप होने से 'अर्द्धभ्रम' है। इस प्रकार इसमें आठ तरह से चित्रालंकार है।

इस श्लोक का चित्रण इस प्रकार से है-

पारावाररवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।
वामानाममनामावारक्षमर्द्धर्द्धमक्षर ॥८४॥

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	पा A	रा B	वा C	र D	र	वा	रा	पा A
B	रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
C	वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
D	र	क्ष	म	र्द्ध	र्द्ध	म	क्ष	र
E	र	क्ष	म	र्द्ध	र्द्ध	म	क्ष	र
F	वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
G	रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
H	A पा	रा	वा	र	र D	वा C	रा B	पा A

नीचे की चार पंक्तियों में श्लोक को विपरीत क्रम में लिखा गया है। कोष्टक में श्लोक को चारों ओर से पढ़ा जाता है। चित्र में पहले पाद (A) को चारों दिशाओं में इंगित किया है।

चित्र-६९ (सर्वतोभद्र)

श्री अरनाथ जिन

चिह्न - मत्स्य (मछली)

प्रथम गणधर - श्री कुम्भ (कुन्थु) स्वामी

ॐ श्री अर-जिन-स्तुतिः ॐ

(गतप्रत्यागतपादपादाभ्यासयमकाक्षरद्वयविरचितश्लोकः)

वीरावारर वारावी वररोरुरुरोरव ।
वीरावाररवारावी वारिवारिरि वारि वा ॥८५॥

अन्वयार्थ - [**वीरावार!**] हे वीरावार! नरकादि कुगतियों का निवारण करने वाले, [**अर!**] हे अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ भगवान्! [**वारावी!**] हे भक्तजनों के रक्षक! [**वरर!**] हे इष्ट-फलों को देने वाले! [**उरुरोः**] आप महान् से महान् हैं - सबसे श्रेष्ठ हैं। [**अवाररवारावी**] आपकी दिव्यध्वनि सब ओर से अप्रतिहत है, उसका विरोध करने वाला अथवा रोकने वाला कोई नहीं है। [**वारिवारिरि**] जिस प्रकार सारे नभस्थल में व्याप्त होने वाले बादलों में जल रहता है, उसी प्रकार आपकी वाणी सर्व स्थान में व्याप्त है - सर्व जगत् में रहने वाले चराचर पदार्थों के स्वरूप का निरूपण करने वाली है। अथवा [**वारि वा**] जल के समान शब्द करने वाले, [**वीर अर**] हे शूरवीर अरनाथ प्रभो! [**अव**] आप मेरी और अन्य जीवों की रक्षा कीजिये।

आचार्य समन्तभद्र अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ भगवान् की स्तुति में कहते हैं कि हे भगवन्! आप भक्तजनों के रक्षक हैं, इष्ट-फलों को देने वाले हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। आपकी दिव्यध्वनि सब ओर से अप्रतिहत है, उसका विरोध करने वाला अथवा रोकने वाला कोई नहीं है। जिस प्रकार सारे नभस्थल में व्याप्त होने वाले बादलों में जल रहता है, उसी प्रकार आपकी वाणी सर्व स्थान में व्याप्त है - सर्व जगत् में रहने वाले चराचर पदार्थों के स्वरूप का निरूपण करने वाली है। अथवा आपकी दिव्यध्वनि नभस्थल में व्याप्त होने वाले बादलों में जल के समान गम्भीर शब्द करने वाली है। हे शूरवीर अरनाथ प्रभो! मेरी और अन्य जीवों की रक्षा कीजिये।

इस श्लोक का प्रत्येक पाद चाहे उसको सीधा पढ़ें अथवा विपरीत क्रम में पढ़ें, वह एक जैसा ही रहता है। प्रत्येक पाद में पुनरावृत्ति है। पूरे श्लोक में 'रेफ' और 'वकार' दो ही वर्ण

हैं, अन्य वर्ण इसमें नहीं हैं। अतः यह गतप्रत्यागत-पाद-पादाभ्यास-यमकाक्षरद्वय-विरचित श्लोक है। श्लोक न. 93 और 94 में भी यही अलंकार है।
इस श्लोक का चित्रण इस प्रकार से है-

वीरावारर वारावी वररोरुरुरोरव ।
वीरावाररवारावी वारिवारिरि वारि वा ॥८५॥

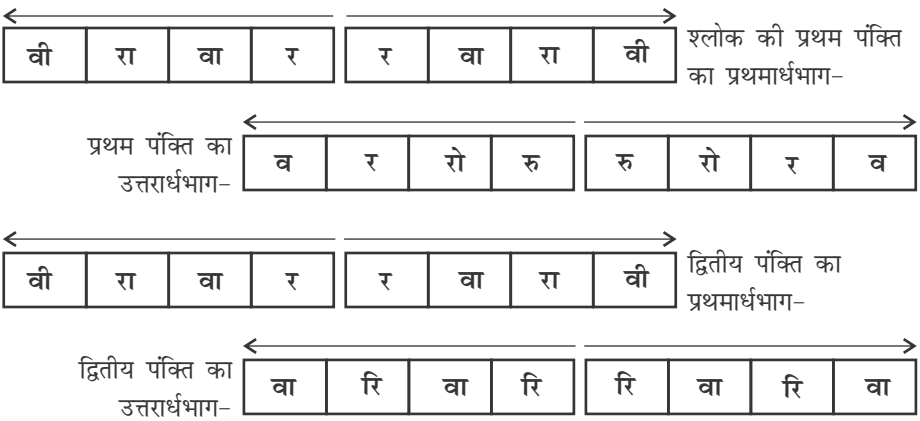

चित्र-७० (यमकाक्षरद्वय)

(अनुलोमप्रतिलोमश्लोकः)

रक्ष माक्षर वामेश शमी चारुरुचानुतः ।
भो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय ॥८६॥

अन्वयार्थ - **[भो विभो!]** हे त्रिलोकपते! **[अनशन!]** हे अनाहार अथवा अविनाशी! **[अक्षर!]** हे अनश्वर! **[वामेश!]** हे प्रधान स्वामी! **[उरुनम्र!]** हे महान् पुरुषों के द्वारा नमस्कार करने योग्य! **[अज!]** हे जन्म-रहित! **[इन!]** हे स्वामिन्! **[विजरामय]** आप बुढ़ापा और व्याधियों से रहित हैं, **[शमी]** समता भाव के धारी हैं, **[चारुरुचानुतः]** शोभनीय महान् पुरुष आपकी स्तुति करते हैं, ऐसे हे भगवन्! **[मा]** मेरी **[रक्ष]** रक्षा करो।

हे त्रिलोकीपति अरनाथ भगवान्! आप अनाहार हैं अर्थात् आप कवलाहार नहीं करते हैं, अविनश्वर हैं, इन्द्रों के भी इन्द्र हैं। बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी पुरुष आपके चरणों में नतमस्तक हैं, अहर्निश आपके गुणों का चिन्तवन कर आपको नमस्कार करते हैं। भगवन्! आप अज अर्थात् जन्म-रहित हैं, अब आप संसार में जन्म नहीं लेंगे। आप सबके स्वामी हैं, वृद्धावस्था और व्याधियों से रहित हैं। आप मेरी रक्षा करो, मुझे संसार के दुःखों से मुक्त करो, मैं आपकी शरण में आया हूँ।

यह अनुलोम-प्रतिलोम श्लोक है क्योंकि इसके चरणस्थ अक्षरों को विपरीत पढ़ने से भी वही चरण बन जाता है- जैसे 'रक्षमाक्षर' को विपरीत पढ़ने से 'रक्षमाक्षर' ही बनता है, 'चारुरुचा' को विपरीत पढ़ने से 'चारुरुचा' ही बनता है। इसी प्रकार 'भो विभो', 'नशेन' तथा 'नम्रेन' आदि पद भी अनुलोम-प्रतिलोम हैं। अतः इसे अनुलोम-प्रतिलोम श्लोक कहते हैं।
इसके अतिरिक्त, इस श्लोक को विपरीत क्रम से पढ़ने पर यह सत्तासीवाँ (87वाँ) श्लोक बन जाता है। अर्थ भी उससे भिन्न रहता है। इसी से ये दोनों श्लोक (86वाँ और 87वाँ) अनुलोम-प्रतिलोम श्लोक हैं।

(अनुलोमप्रतिलोमश्लोकः)

यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो ।
तनु चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥८७॥

अन्वयार्थ - [**भो विभो!**] हे प्रभो! [**यमराज!**] आप व्रतों के स्वामी हैं अथवा व्रतों से शोभायमान हैं। [**विनम्रेन**] इन्द्र-अहमिन्द्र आदि भी आपके चरणों में नत हैं, आपको नमस्कार करते हैं। [**रुजोनाशन**] आप समस्त रोगों - आधि-व्याधि - को नष्ट करने वाले हैं। [**चारुरुचां**] शोभनीय कान्ति के [**ईश**] स्वामी हैं। [**अक्षर**] अविनाशी हैं। हे भगवन्! [**मा**] मेरे लिये [**शम् एव तनु**] सुख ही विस्तृत करो अर्थात् मुझको मोक्षसुख प्रदान कीजिये, और मेरी [**आरक्ष**] रक्षा कीजिये।

हे भगवन्! आप सर्वव्रतों के तथा व्रतधारियों के अधिपति हो, अर्थात् सर्व चौरासी लाख व्रतों से शोभित हो। सर्व इन्द्र-अहमिन्द्र आदि के द्वारा पूजित हो, अर्थात् शत इन्द्र आपके चरणों में नमस्कार करते हैं। आपके स्तवन से सारी आधियाँ-व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। आप तेज के धारक हैं, अर्थात् आपके शरीर की प्रभा से निर्मित भामण्डल से कोटि सूर्य का तेज फीका पड़ जाता है तथा आपके भामण्डल में भव्य प्राणी सात भव देख सकते हैं अर्थात् आप सर्वांग सुन्दर हैं। हे प्रभो! आप अविनाशी हैं, अब इस स्वात्मोपलब्धि रूप शिव-सौख्य सिद्धि पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय को धारण करने वाले नहीं हैं। हे स्वामिन्! मुझको केवल मोक्षसुख ही प्रदान कीजिये और मेरी रक्षा कीजिये। मुझे संसार के दुःखों से मुक्त कीजिये।

यह श्लोक श्लेषालंकार से युक्त है अतः यह सूर्यपक्ष में गर्भित हो सकता है। 'इन' शब्द का अर्थ 'सूर्य' लिया जा सकता है। अन्य सारे सम्बोधन इसी सूर्य शब्द के विशेषण हैं। यथा- हे शनिग्रहरूप स्वपुत्र से शोभायमान्! हे आकाशनम्र - गगनसंचारिन्! हे रोगपहारिन्! हे गगनैकनाथ! हे अखिल व्यवहार के दायक! हे सुन्दर किरणों के नायक! हे अरनाथ-रूपी सूर्य! मेरे लिए सुख विस्तृत करो और मुझे दुःखों से बचाओ, मेरी रक्षा करो।

जैसा श्लोक न. 86 के अन्तर्गत कहा गया है, यह सत्तासीवाँ (87वाँ) श्लोक उस श्लोक

(86वाँ) को विपरीत क्रम से पढ़ने पर बन जाता है। अर्थ भी उससे भिन्न रहता है। इसी से ये दोनों श्लोक (86वाँ और 87वाँ) अनुलोम-प्रतिलोम श्लोक हैं।

रक्ष माक्षर वामेश शमी चारुरुचानुतः ।
भो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय ॥८६॥

श्लोक न. 86 के अक्षरों का क्रम-

र	क्ष	मा	क्ष	र	वा	मे	श	श	मी	चा	रु	रु	चा	नु	तः
भो	वि	भो	न	श	ना	जो	रु	न	म्रे	न	वि	ज	रा	म	य

इन अक्षरों को विपरीत क्रम से लिखने पर श्लोक न. 87 बन जाता है-

यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो ।
तनु चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥८७॥

य	म	रा	ज	वि	न	म्रे	न	रु	जो	ना	श	न	भो	वि	भो
त	नु	चा	रु	रु	चा	मी	श	श	मे	वा	र	क्ष	मा	क्ष	र

चित्र-७१ (अनुलोम-प्रतिलोमश्लोक)

(गतप्रत्यागतभागः)

नय मा स्वर्य वामेश शमेवार्य स्वमाय न ।
दमराजर्त्तवादेन नदेवार्त्तजरामद ॥८८॥

अन्वयार्थ - [**स्वर्य!**] हे सुस्वामिन्! [**वामेश!**] हे उत्कृष्ट नायक! [**आर्य!**] हे श्रेष्ठ पुरुष! [**स्वमाय!**] हे सम्यक प्रकार से मायारहित! अथवा [**आर्यस्वमायन!**] सर्वप्रकार से स्वकीय आत्मा का अनुभव करने वाले ज्ञान से सम्पन्न अर्थात् हे स्वपर प्रकाशक ज्ञान से संयुक्त! [**दमराज!**] हे इन्द्रियदमनरूप संयम से शोभायमान! [**ऋतवाद!**] हे सत्यवादिन, अनेकान्त दृष्टि से पदार्थों का सत्य स्वरूप बतलाने वाले! [**इन!**] हे स्वामिन्! [**नदेवार्त्तजरामद!**] देव (क्रीड़ा), आर्त्त (पीड़ा), जरा (बुढ़ापा) और मद जिनके नहीं हैं अर्थात् क्रीड़ा, पीड़ा, वृद्धत्व और अहंकार से रहित अरनाथ भगवान्! [**मा**] मेरे लिए [**शं**] सुख-शान्ति [**एव**] ही [**नय**] प्राप्त कराओ, [**न**] मुझे संसार के दुःखों से छुड़ाओ।

आचार्य समन्तभद्र भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं कि- हे भगवन्! हे सर्वश्रेष्ठ नायक! हे श्रेष्ठ पुरुष! हे सम्यक प्रकार से मायारहित! हे स्वपर प्रकाशक ज्ञान से संयुक्त! हे इन्द्रियदमनरूप संयम से शोभायमान! हे सत्यवादिन अर्थात् स्याद्वादात्मक वचनों द्वारा अनेक-धर्मात्मक वस्तु का सत्यरूप से प्रतिपादन करने वाले! हे क्रीड़ा, शारीरिक-पीड़ा, वृद्धत्व और अहंकार से रहित, अरनाथ भगवान्! मुझको संसार के दुःखों से मुक्त कराओ और वास्तविक स्वात्मोपलब्धि स्वरूप सुख प्राप्त कराओ।

श्लोक के इस गतप्रत्यागतभाग अलंकार में विषेशता यह है कि श्लोक के प्रथम पाद को क्रम से पढ़ने में जो अक्षर आते हैं, वे ही अक्षर विपरीत क्रम - दूसरी ओर - से पढ़ने पर श्लोक का द्वितीय पाद बनाते हैं। इसी तरह तृतीय और चतुर्थ पाद के लिए श्लोक के उत्तरार्धभाग को भी लिखकर पढ़ना चाहिये।

श्लोक न. 10 व 83 में भी यह अलंकार आ चुका है।

नय मा स्वर्य वामेश शमेवार्य स्वमाय न ।
दमराजर्त्तवादेन नदेवार्त्तजरामद ॥८८॥

श्लोक की प्रथम पंक्ति का प्रथमार्धभाग–

न	य	मा	स्व	र्य	वा	मे	श

इन अक्षरों को विपरीत क्रम से लिखें–

श	मे	वा	र्य	स्व	मा	य	न

यह इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का उत्तरार्धभाग है।

श्लोक की द्वितीय पंक्ति का प्रथमार्धभाग–

द	म	रा	ज	र्त्त	ना	दे	न

इन अक्षरों को विपरीत क्रम से लिखें–

न	दे	वा	र्त्त	ज	रा	म	द

यह इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति का उत्तरार्धभाग है।

चित्र–७२ (गतप्रत्यागतभाग)

(यथेष्टैकाक्षरान्तरितमुरजबन्धः)

वीरं मा रक्ष रक्षार परश्रीरदर स्थिर ।
धीरधीरजरः शूर वरसारर्द्धिरक्षर ॥८९॥

अन्वयार्थ - **[रक्षार!]** हे समस्त प्राणियों का कल्याण करने वाले, अरनाथ भगवान्! **[अदर!]** हे निर्भय! **[अजरः!]** हे जन्म-मरण रहित! **[स्थिर!]** हे अचल! **[अक्षर!]** हे अविनाशी! **[शूर!]** हे शूरवीर! प्रभो आप **[परश्रीः]** उत्कृष्ट - समवसरणादि बहिरंग और अनन्त-चतुष्टयादि अन्तरंग - लक्ष्मी के धारक हैं। **[धीरधीः]** आप अगाध-बुद्धि (केवलज्ञान) से सम्पन्न हैं। **[वरसारर्द्धिः]** आप श्रेष्ठ और सार (अविनाशी) ऋद्धि (ज्ञानादि विभूति) से युक्त हैं। **[वीरं]** विरूप गतियों - दुःखदायी चारों गतियों और चौरासी लाख योनियों - में भ्रमण करने वाले **[मा]** मेरी **[रक्ष]** रक्षा करो। मुझे संसार-परिभ्रमण से मुक्त करो।

इस श्लोक में यथेष्टैकाक्षरान्तरित-मुरजबन्ध है; इसकी विशेषता है कि इसमें अपना इष्ट अक्षर - जो यहाँ पर 'र' है - एक-एक अक्षर के अन्तर से पद्य के चारों ही चरणों में बराबर प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इस प्रकार के दूसरे श्लोक 50 और 91 हैं।
इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

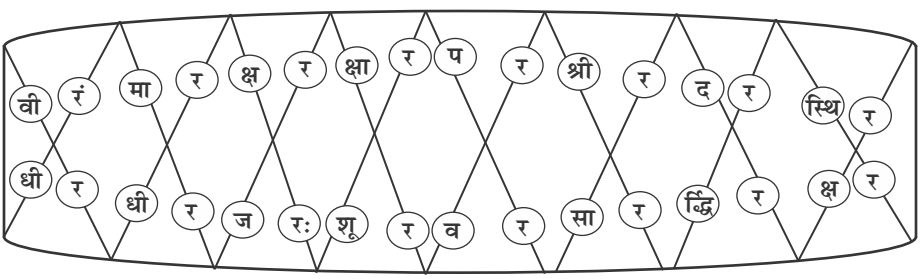

चित्र-७३ (मुरजबन्ध)

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः
प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते
तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ (१८-१८-१०३)

हे अरनाथ भगवन्! आपके मत में प्रमाण और नय रूप साधनों से सिद्ध होने वाला अनेकान्त भी अनेकान्त रूप है। अर्थात् किसी अपेक्षा से अनेकान्त है व किसी अपेक्षा से एकान्त है। प्रमाण की अपेक्षा से जो सर्व धर्मों को एक साथ जानने वाला है वह अनेकान्त अनेक धर्म रूप है व विवक्षित नय की अपेक्षा से वह अनेकान्त एकान्त-रूप है।

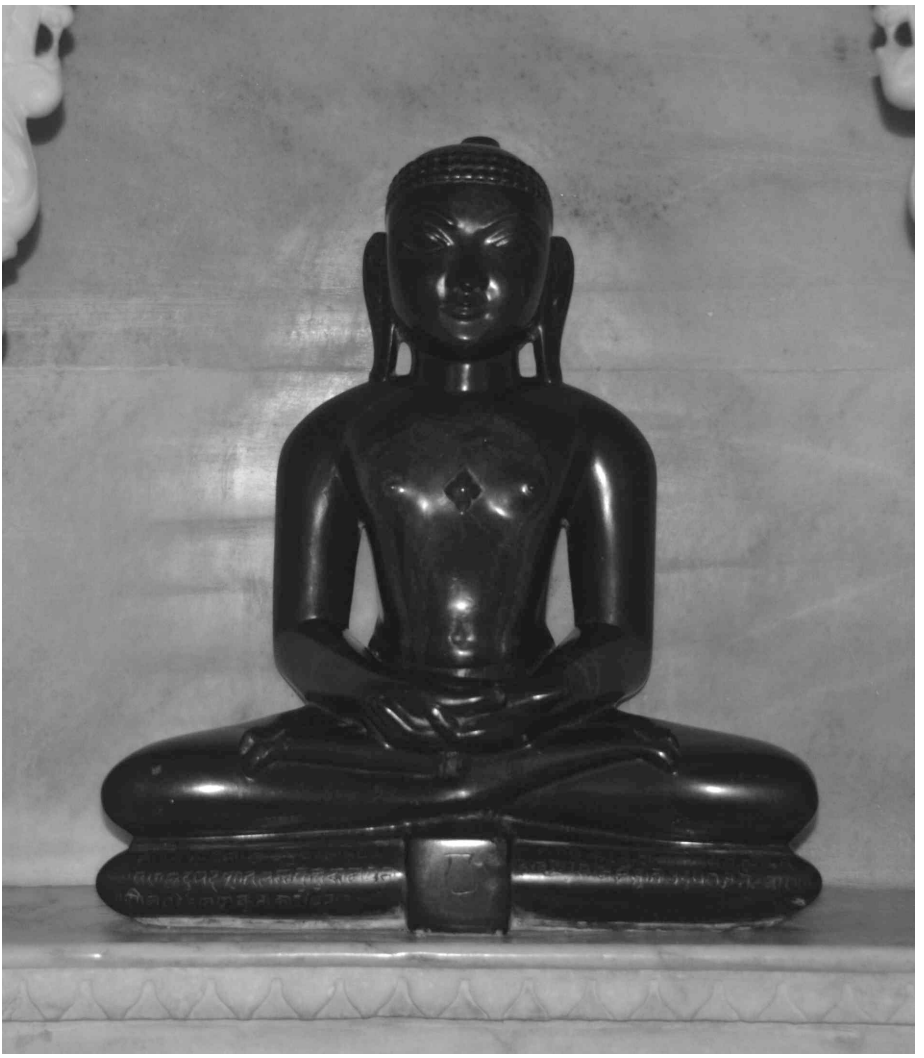

श्री मल्लिनाथ जिन

चिह्न - कलश

प्रथम गणधर - श्री विशाख स्वामी

ॐ श्री मल्लि-जिन-स्तुतिः ॐ

(अर्द्धभ्रमः)

आस यो नतजातीर्य्यां सदा मत्वा स्तुते कृती ।
यो महामतगोतेजा नत्वा मल्लिमितः स्तुत ॥९०॥

अन्वयार्थ - [**यः**] जो [**नतजातीर्य्यां**] नमस्कार करने वालों के जन्म-मरण आदि रोग को [**आस**] दूर करते हैं, नष्ट करते हैं। [**यः**] जो [**महामतगोतेजाः**] महान् आगम, दिव्यध्वनि और तेज (ज्ञान) वाले हैं। जिनकी [**स्तुते**] स्तुति करने पर साधु-पुरुष [**कृती**] अविनाशी कीर्ति वाला तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर महान् पुण्यवान् हो जाते हैं। [**मत्वा**] ऐसा जानकर [**सदा**] निरन्तर [**मल्लिं**] मल्लिनाथ भगवान् को [**इतः**] प्राप्त होकर [**नत्वा स्तुतः**] नमस्कारपूर्वक उनकी स्तुति करो।

इस श्लोक के अर्द्धभ्रमः चित्रालंकार की रचना-

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	आ A1	स B1	यो C1	न D1	त ↑	जा ↑	ती ↑	र्य्यां ↑
B	स	दा	म	त्वा	स्तु	ते	कृ	ती
C	यो	म	हा	म	त	गो	ते	जा
D	न ↓	त्वा ↓	म ↓	ल्लि ↓	मि D2	तः C2	स्तु B2	त A2

चित्र-७४ (अर्द्धभ्रम)

श्री मुनिसुव्रतनाथ जिन

चिह्न - कूर्म (कछुआ)

प्रथम गणधर - श्री मल्लि स्वामी

ॐ श्री मुनिसुव्रत-जिन-स्तुतिः ॐ

(निरौष्ठ्ययथेष्टैकाक्षरान्तरितमुरजबन्धो गोमूत्रिका षोडशदलपद्मश्च)

ग्लानं चैनश्च नः स्येन हानहीन घनं जिन ।
अनन्तानशन ज्ञानस्थानस्थाऽऽनत-नन्दन ॥९१॥

अन्वयार्थ - [**इन!**] हे मुनिसुव्रत स्वामिन्! [**हानहीन!**] हे क्षयरहित! [**जिन!**] हे कर्मशत्रुओं को जीतने वाले परमात्मा! [**अनन्त!**] हे अपरिमित गुणों के धारक! [**अनशन!**] हे अविनाशी वा निराहारी! [**ज्ञानस्थानस्थ!**] आप केवलज्ञानरूपी धाम में स्थित हैं। [**आनत-नन्दन**] आप नमस्कार करने वालों - प्रणत पुरुषों - की वृद्धि करने वाले अर्थात् उनको आनन्दित और समृद्ध करने वाले हैं। (उत्तर श्लोक न. 92 से 'मुनिसुव्रत' का ग्रहण करना है, अतः) हे मुनिसुव्रत भगवन्! [**नः**] हमारी (स्तुति करने वालों की) [**ग्लानं**] ग्लानि को [**च**] और [**घनं**] अनादिकाल से आत्मप्रदेशों में स्थित घोर [**ऐनः**] पापों (राग-द्वेषादि पापकर्मों) को [**स्य**] दूर करो, नाश करो। (एक 'च' पादपूर्ण अर्थ में है।)

यह श्लोक निरौष्ठ्य है अर्थात् इसमें ओष्ठ स्थानीय उवर्ण, पवर्ण और उपध्मानीय अक्षर नहीं हैं। इसमें यथेष्टैकाक्षरान्तरित-मुरजबन्ध है; इसकी विशेषता है कि इसमें अपना इष्ट

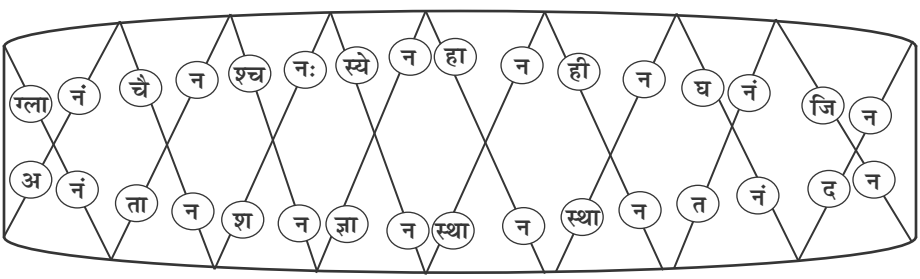

चित्र-७५ (मुरजबन्ध)

अक्षर – जो यहाँ पर 'न' है – एक-एक अक्षर के अन्तर से पद्य के चारों ही चरणों में बराबर प्रयुक्त हुआ है। इसमें गोमूत्रिकाबन्ध और षोडशदलपद्मबन्ध भी है। जिस रचना में ऊपर और नीचे के क्रम से अक्षर एकान्तरित करके पढ़े जायें, विद्वानों ने निश्चय ही उस रचनाविशेष को 'गोमूत्रिका' कहा है।[1]

ग्लानं चैनश्च नः स्येन हानहीन घनं जिन ।
अनन्तानशन ज्ञानस्थानस्थाऽऽनत-नन्दन ॥९१॥

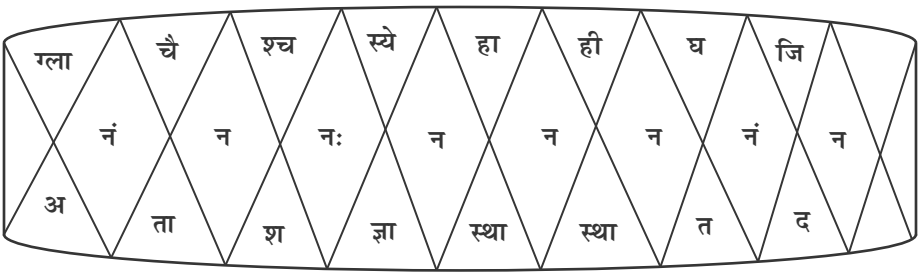

चित्र-७६ (गोमूत्रिकाबन्ध)

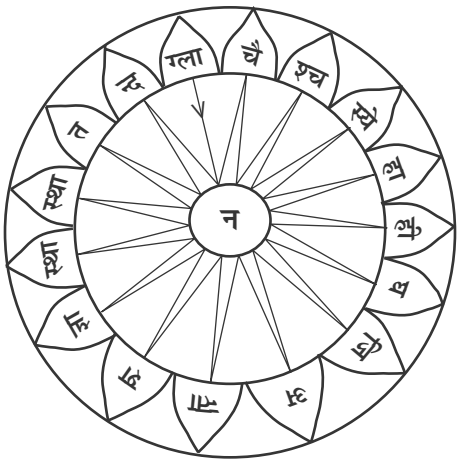

चित्र-७७ (षोडशदलपद्मबन्ध)

1. देखें, **'अलंकार चिन्तामणि'**, पृ. 52

(अर्द्धभ्रमः)

पावनाजितगोतेजो वर नानाव्रताक्षते ।
नानाश्चर्य सुवीतागो जिनार्य मुनिसुव्रत ॥९२॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! **[पावन]** आप परम पवित्र हैं, राग आदि दोषों से रहित हैं। **[अजितगोतेजः]** आपकी दिव्यध्वनि और आपका केवलज्ञानरूपी तेज अजेय, अप्रतिहत हैं; इन्हें कोई नहीं जीत सकता, खण्डन नहीं कर सकता। **[वर]** आप अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। **[नानाव्रत]** आपने छद्मस्थ अवस्था में (केवलज्ञान प्राप्त होने के पहले) अनेक व्रतों को धारण किया था। **[अक्षते]** आप क्षयरहित हैं। **[नानाश्चर्य]** आप अनेक आश्चर्य-सहित (ऋद्धियों और प्रातिहार्यों से युक्त) हैं। **[सुवीतागः]** आपके समस्त पाप (घातिया कर्म) नष्ट हो गये हैं। **[जिन]** आप जिनेन्द्र हैं और **[आर्य]** सबके स्वामी हैं। **[मुनिसुव्रत]** हे मुनिसुव्रत भगवान्! हमारी भी सांसारिक ग्लानि (थकावट) और पाप-परिणति (आर्त-रौद्र ध्यान) को दूर कीजिये। (यहाँ 'ग्लान' और 'स्य' क्रिया का सम्बन्ध पूर्व श्लोक न. 91 से लेना।)

इस श्लोक के अर्द्धभ्रमः चित्रालंकार की रचना-

	1	2	3	4	5	6	7	8
A	पा A1	व B1	ना C1	जि D1	त ↑	गो ↑	ते ↑	जो ↑
B	व	र	ना	ना	व्र	ता	क्ष	ते
C	ना	ना	श्च	र्य	सु	वी	ता	गो
D	जि ↓	ना ↓	र्य ↓	मु ↓	नि D2	सु C2	व्र B2	त A2

चित्र-७८ (अर्द्धभ्रम)

श्री नमिनाथ जिन

चिह्न - उत्पल (नीलकमल)

प्रथम गणधर - श्री सुप्रभ (सोमक) स्वामी

ॐ श्री नमि-जिन-स्तुतिः ॐ

(गतप्रत्यागतपादयमकाक्षरद्वयविरचितसन्निवेशविशेष-
समुद्गतानुलोमप्रतिलोमश्लोकयुगलश्लोकः)

नमेमान नमामेनमानमाननमानमा-
मनामोनु नुमोनामनमनोमम नो मन ॥९३॥

अन्वयार्थ - [**नमे!**] हे इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ! [**अमान**] आप अपरिमेय हैं, हमारे जैसे अल्पज्ञानियों के द्वारा आपका वास्तविक रूप नहीं समझा जाता। [**इनं**] आप सबके स्वामी हो, [**नमाम**] आपको नमस्कार हो। [**आनमाननमानं**] आपका ज्ञान सब जीवों को प्रबोध करने वाला है। [**अमम!**] हे निर्मोही! [**अनामनमनः**] आप किसी से उसकी इच्छा के विरुद्ध नमस्कार नहीं कराते। अथवा, नमनशील है चित्त जिससे उसका सम्बोधन - हे नामनमनः! अथवा, जिसको देखकर मन स्वयमेव झुक जाता है। अथवा, जिसके निमित्त को पाकर चित्त स्तुतियुक्त हो जाता है। [**आमनामः**] मैं मन में चिन्तवन करता हूँ, [**अनु**] पश्चात् [**नुमः**] नमस्कार करता हूँ, आपकी स्तुति करता हूँ। [**नः**] मेरा [**मनः**] सदा ध्यान रखिये। मैं आपके समान पूर्ण ज्ञानी और मोह-रहित होना चाहता हूँ।

श्लोक न. 93 और 94 - युगल-श्लोक - केवल दो अक्षरों 'न' और 'म' से बने हैं। अतः अक्षरद्वय कहलाते हैं। तथा गतप्रत्यागत पादयमक दो अक्षरों से निर्मित सन्निवेश विशेष से उत्पन्न अनुलोम-प्रतिलोम नामक चित्रालंकार है। इसमें प्रत्येक पाद के अक्षर पुनः पुनः आते हैं, अतः इसको गतप्रत्यागत पादयमक कहते हैं। इसके चारों ही पाद क्रम से या विपरीत पढ़ने से एक समान ही होते हैं। जैसे- 'नमेमान नमामेन' इस प्रथम पाद को विपरीत पढ़ने से भी ऐसा ही पाद 'नमेमान नमामेन' बनेगा। इन दोनों श्लोकों की समान रचना होने पर भी अर्थ पृथक्-पृथक् है।

इस श्लोक का चित्रण इस प्रकार से है-

नमेमान नमामेनमानमाननमानमा-
मनामोनु नुमोनामनमनोमम नो मन ॥९३॥

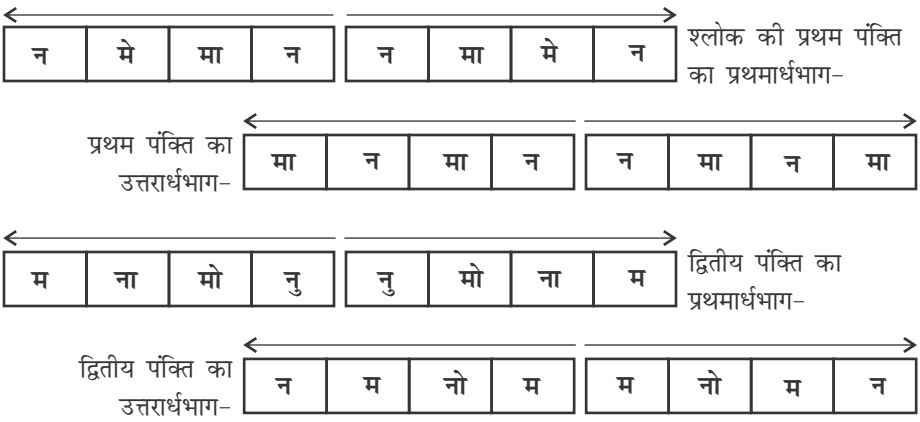

चित्र-७९ (गतप्रत्यागतभाग)

(गतप्रत्यागतपादयमकाक्षरद्वयविरचितसन्निवेशविशेष-
समुद्गतानुलोमप्रतिलोमश्लोकयुगलश्लोकः)

न मे माननमामेन मानमाननमानमा-
मनामो नु नु मोनामनमनोम मनोमन ॥९४॥

अन्वयार्थ - हे प्रभो! [**आनमामनामः**] जो आपको भक्तिपूर्वक नमस्कार करता है आप उसके सब रोग नष्ट कर देते हैं, [**मोनामनमनः**] तथा जो ज्ञानादि लक्ष्मी से रहित हैं - वस्तुतः निर्धन हैं - उनके भी समस्त सांसारिक रोगों को नष्ट कर देते हैं। इसके सिवाय [**अमन**] आप अत्यन्त सुन्दर हैं। [**मानमा**] ज्ञानगुण को घातने वाले तथा जीव के शुद्ध स्वरूप को नष्ट करने वाले [**आमेन**] इन कर्मरूपी रोगों ने [**नु**] वास्तव में [**मे**] मेरा [**माननं**] समस्त प्रभुत्व अथवा स्वातन्त्र्य [**न**] नष्ट कर दिया है। हे नमिनाथ भगवान्! [**नु**] आप निश्चय से [**मनः**] मेरे मन को [**अम**] प्राप्त होओ, मेरे हृदय मन्दिर में प्रवेश काजिये, जिससे कि मैं [**अननमा**] ज्ञानादि गुणों के घातक कर्मों से रहित हो जाऊँ, मेरी स्वतन्त्रता मुझे प्राप्त हो सके।

इस श्लोक में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे भगवन्! आप भक्त-पुरुषों के समस्त रोग-दुःख नष्ट कर देते हैं तथा दरिद्र मनुष्यों के भी आप अत्यन्त हितैषी हैं - उनके भी दारिद्र्यजनित रोग-दुःख नष्ट कर देते हैं। मुझे भी इन संसार-रूपी रोगों ने घेर रखा है; उन्होंने मेरी स्वतन्त्रता को हर लिया है। मेरी केवलज्ञानादि सम्पत्ति भी उन रोगों ने हर ली है अतः मैं दरिद्र और असमर्थ हो रहा हूँ। आप मेरे हृदय में प्रवेश कर मेरे सब रोगों को दूर कीजिये। जिसमें रोग दूर करने की सामर्थ्य होती है उसी से तो प्रार्थना की जाती है! सार यह है कि भगवान् नमिनाथ का ध्यान करने से जीवों के समस्त सांसारिक रोग-दुःख दूर हो जाते हैं और वे नीरोग होकर अपने स्वाधीन सुख के उपभोक्ता बन जाते हैं।

श्लोक न. 93 और 94 युगल-श्लोक हैं। इन दोनों श्लोकों की समान रचना है पर अर्थ पृथक्-पृथक् हैं। इस श्लोक का चित्रण श्लोक न. 93 के चित्र-79 जैसा ही है।

(अनुलोमप्रतिलोमसकलश्लोकगतप्रत्यागतार्द्धः)

नर्दयाभर्त्तवागोद्य द्य गोवार्त्तभयार्दन ।
तमिता नयजेतानुनुताजेय नतामित ॥९५॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! **[नः]** आप पूज्य हैं, **[दयाभ]** दयास्वरूप हैं अथवा दया से शोभायमान हैं, **[ऋतवागोद्य]** अनेकान्तरूप सत्यवाणी के द्वारा ही आपका स्वरूप जाना जाता है। **[गोवार्त्तभयार्दन]** आपके उपदेश की चर्चा मात्र से समस्त भय नष्ट हो जाते हैं। **[अनुनुत!]** हे पूजनीय! **[अजेय!]** हे अपराजित! **[नतामित!]** अपरिमित इन्द्र, नरेन्द्र आदि आपको नमस्कार करते हैं। **[नयजेता]** आपने स्याद्वाद - सापेक्ष नयों - के द्वारा समस्त जगत् को जीत लिया है। **[तमिताः]** मेरे जन्म-मरण के दुःखों का **[द्य]** खण्डन करो, नाश करो। (यहाँ 'मे' तथा 'नः' शब्द पूर्व श्लोक से ग्रहण किये गये हैं।)

इस श्लोक के प्रथम पाद को क्रम से पढ़ने में जो अक्षर आते हैं, वे ही अक्षर विपरीत क्रम - दूसरी ओर - से पढ़ने पर श्लोक का द्वितीय पाद बनाते हैं। इसी प्रकार तृतीय पाद के अक्षरों को विपरीत क्रम से पढ़ने पर चतुर्थ पाद बन जाता है। श्लोक न. 10, 83 व 88 में भी यह अलंकार आ चुका है।

चित्र-८० (गतप्रत्यागतभाग)

(अनुलोमप्रतिलोम-गतप्रत्यागतश्लोकः)

हतभीः स्वय मेध्याशु शं ते दातः श्रिया तनु ।
नुतया श्रित दान्तेश शुद्ध्यामेय स्वभीत ह ॥९६॥

अन्वयार्थ - हे नमिनाथ भगवान्! **[स्वय]** आप महापुण्यवान् हो - तीर्थंकर नामकर्म जैसी पुण्यपृकृति के उदय से युक्त हो, **[मेध्य]** पवित्र हो, **[दातः]** दानशील हो, **[नुतया]** पूजित हो। **[श्रिया]** अत्यन्त उत्कृष्ट अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी से **[श्रित]** सेवित हो। **[दान्तेश]** इन्द्रियों को वश में करने वाले मुनियों के स्वामी हो। **[शुद्ध्या]** केवलज्ञानरूपी शुद्धि से **[अमेय]** अमेय हो - आपका केवलज्ञान अपरिमित है - अनन्त है। **[स्वभीत हतभीः]** स्पष्टरूप से आप निर्भीक हो, अर्थात् अनन्तवीर्य से सहित हो। हे प्रभो! **[ते]** आप **[ह शं]** प्रकटरूप से जिस स्वात्मीय अनन्त सुख के धनी हो वह अनन्त सुख मुझे भी **[आशु तनु]** शीघ्र दीजिये। मैं आप जैसा बन जाऊँ, मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये।

इस श्लोक में अनुलोमप्रतिलोम-गतप्रत्यागत अलंकार है। इसकी विशेषता यह है कि पूरे श्लोक को क्रम से पढ़ने में जो अक्षर आते हैं, वे ही अक्षर विपरीत क्रम - दूसरी ओर - से पढ़ने में भी आते हैं। जहाँ अर्धश्लोक में गतप्रत्यागत है वह गतप्रत्यागत अर्ध-अलंकार कहलाता है। इस श्लोक में पूर्णतया गतप्रत्यागत अनुलोमप्रतिलोम होने से यहाँ अनुलोम-प्रतिलोम गतप्रत्यागत अलंकार है।

ह	त	भीः	स्व	य	मे	ध्या	शु	शं	ते	दा	तः	श्रि	या	त	नु
नु	त	या	श्रि	त	दा	न्ते	श	शु	द्ध्या	मे	य	स्व	भी	त	ह

पूरा श्लोक विपरीत क्रम से पढ़ने पर पुनः मूल श्लोक बन जाता है।

चित्र-८१ (अनुलोम-प्रतिलोम श्लोक)

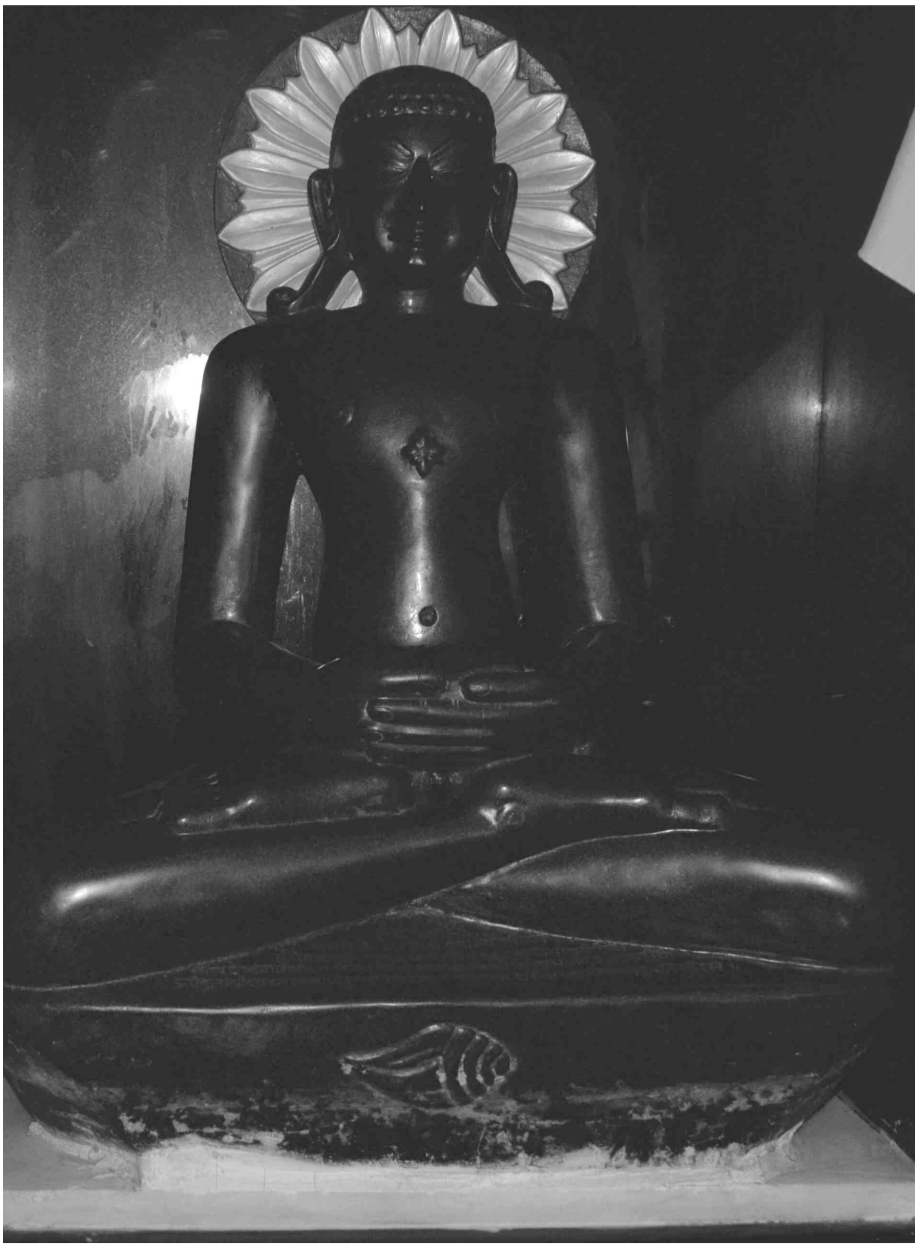

श्री नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) जिन

चिह्न - शंख

प्रथम गणधर - श्री वरदत्त स्वामी

ॐ श्री नेमि-जिन-स्तुतिः ॐ

(द्वयाक्षरश्लोकः)

मानोनानामनूनानां मुनीनां मानिनामिनम् ।
मनूनामनुनौमीमं नेमिनामानमानमन् ॥९७॥

अन्वयार्थ - [**मानोनानां**] आप अहंकार-रहित, [**अनूनानां**] अनून अर्थात् उत्कृष्ट एवं सम्पूर्ण चारित्र के धारक, [**मानिनां**] पूजित [**मुनीनां**] मुनियों के और [**मनूनां**] ज्ञानियों के [**इनं**] स्वामी हैं। मैं [**इमं नेमिनामानं**] इन बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान् को [**आनमन्**] मन, वचन काय की शुद्धिपूर्वक पुनः पुनः नमस्कार करता हुआ [**अनुनौमि**] उनकी निरन्तर स्तुति करता हूँ, उनका चिन्तवन करता हूँ।

पूरा श्लोक केवल दो अक्षरों - 'म' और 'न' - से निर्मित है। इसीलिये इस श्लोक को द्वयाक्षरश्लोक कहा गया है।

(अनुलोमप्रतिलोमैकश्लोकः)

तनुतात्सद्यशोमेय शमेवार्य्यवरो गुरु ।
रुगुरो वर्य्य वामेश यमेशोद्यत्सतानुत ॥९८॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! [**सद्यशः**] आपका यश अत्यन्त निर्मल है, [**अमेय**] आप अल्पज्ञानियों के ज्ञान के अगोचर हैं, अल्पज्ञानी आपके वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पाते हैं, [**रुगुरो**] आप अत्यन्त तेजस्वी महान् कान्ति के धारक हैं, [**वर्य्य**] आप प्रधान-पुरुष हैं, [**वामेश**] आप इन्द्र-अहमिन्द्र आदि प्रधानजनों के स्वामी हैं, [**यमेश**] व्रतियों, मुनियों के नाथ हैं, और [**उद्यत्सता**] बड़े-बड़े पण्डितजन भी आपकी स्तुति करते हैं। [**नुत!**] हे स्तुत-नमस्कृत! [**आर्य्यवरः!**] हे आर्य-पुरुषों में श्रेष्ठ प्रभुवर! मुझे [**गुरु**] सर्वोत्कृष्ट [**शं**] सुख [**एव**] ही [**तनुतात्**] प्रदान कीजिये। मुझे वह सर्वोत्कृष्ट मोक्षरूप-सुख ही प्रदान कीजिये जिसके आप नायक हैं; अन्य सांसारिक सुखों की मुझे इच्छा नहीं है।

इस श्लोक में द्वितीय चरण को विपरीत पढ़ने से तृतीय चरण और प्रथम चरण को विपरीत पढ़ने से चतुर्थ चरण निष्पन्न होता है।

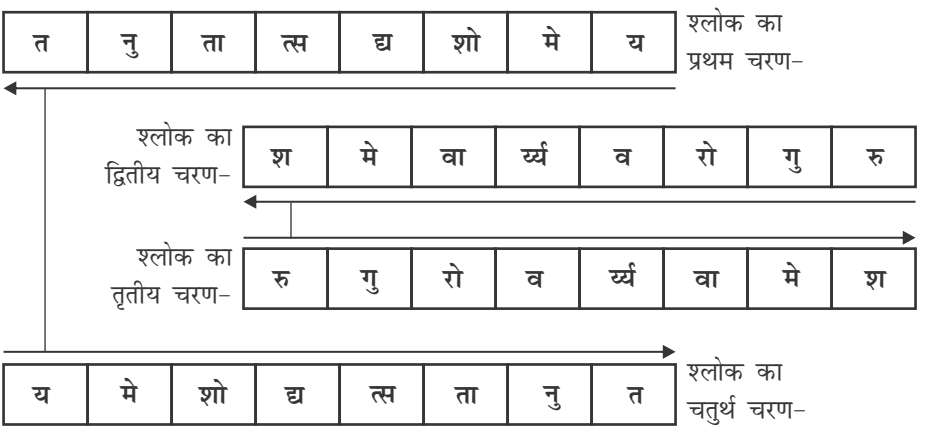

चित्र-८२ (अनुलोम-प्रतिलोम श्लोक)

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम् ।
पादयुगलममलं भवतो विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम् ॥
(२२-३-१२३)

नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम् ।
स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः ॥
(२२-४-१२४)

हे नेमिनाथ भगवन्! आपके चरण-कमलों को आत्महित करने की इच्छा रखने वाले तथा आपकी स्तुति से युक्त मन्त्रों के उच्चारण में निपुण, सुबुद्धि मुनिगण नमस्कार करते हैं। आपके मलरहित चरण-कमल इन्द्रों के मुकुटों की मणिरत्नों की किरणों के प्रसार से स्पर्शित होते हैं (अर्थात् जब इन्द्र नमस्कार करते हैं तब उनके मुकुटों के रत्नों की प्रभा आपके चरणों को स्पर्श करती है), जो अति निर्मल हैं, जिनका तलभाग विकसित कमल-दल के समान रक्त-वर्ण है और जिनके अँगुलियों के अग्रभाग को नख-रूपी चन्द्रमा की किरणों के मण्डल ने अति शोभनीक कर दिया है।

श्री पार्श्वनाथ जिन

चिह्न - सर्प

प्रथम गणधर - श्री स्वयंभू स्वामी

ॐ श्री पार्श्व-जिन-स्तुतिः ॐ

(मुरजबन्धः)

जयतस्तव पार्श्वस्य श्रीमद्भर्तुः पदद्वयम् ।
क्षयं दुस्तरपापस्य क्षमं कर्तुं ददज्जयम् ॥९९॥

अन्वयार्थ - [**जयतः**] आप कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले हैं। [**श्रीमद्भर्तुः**] आप लक्ष्मी - समवसरण आदि बाह्य और अनन्त-चतुष्टय आदि अन्तरंग - के स्वामी हैं। [**तव**] आप [**पार्श्वस्य**] पार्श्वनाथ भगवान् के [**पदद्वयं**] द्वय-चरण-कमल [**जयं ददत्**] भव्य जीवों को विजय प्रदान करने वाले हैं अर्थात् आपके चरण-कमलों का ध्यान करने वालों को सर्व कार्यों में विजय प्राप्त होती है। [**दुस्तरपापस्य**] आप दुस्तर (कठिन से कठिन) पापों का [**क्षयं**] क्षय [**कर्तुं**] करने के लिये [**क्षमं**] समर्थ हैं। हे भगवन्! आपके चरण-कमल हमारे अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करें। यहाँ अगले (100वें) श्लोक से **'मम तमः अत्तु'** को ग्रहण किया गया है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

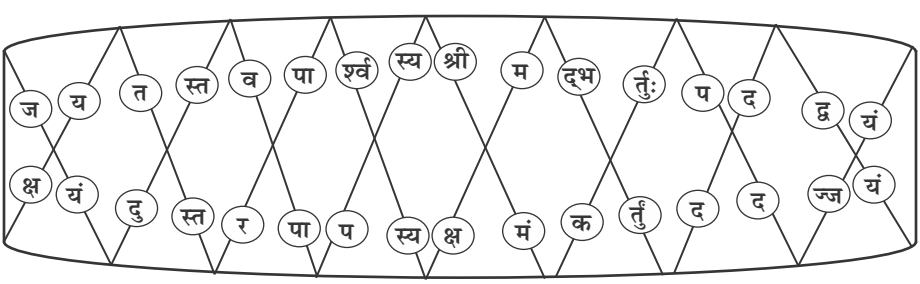

चित्र-८३ (मुरजबन्ध)

(गूढतृतीयचतुर्थानन्तराक्षरद्वयविरचितयमकानन्तरपादमुरजबन्धः)

तमोत्तु ममतातीत ममोत्तममतामृत ।
ततामितमते तातमतातीतमृतेमित ॥१००॥

अन्वयार्थ - हे पार्श्वनाथ भगवान्! **[ममतातीत]** आप ममता-रहित हैं - पर-पदार्थों में 'यह मेरा है' अथवा 'मैं इनका हूँ', ऐसा भाव नहीं रखते। **[उत्तममतामृत]** आपका उत्तम स्याद्वादमय आगम-रूपी अमृत अत्यन्त उत्कृष्ट है। **[ततामितमते]** आपका केवलज्ञान अत्यन्त विस्तृत और अपरिमित (पार-रहित) है। **[तातमत]** आप सबके बन्धु हैं, **[अतीतमृते]** नाशरहित हैं, और **[अमित]** अपरिमित गुणों के धारक हैं। आपके द्वय-चरण-कमल **[मम]** मेरे **[तमः]** अज्ञान-अन्धकार को **[अत्तु]** नष्ट करें। यहाँ पूर्व (99वें) श्लोक से **'पदद्वयं'** को ग्रहण किया गया है।

यह श्लोक गूढ तृतीय-चतुर्थ अनन्तर अक्षर वाला तथा 'त' और 'म' इन दो अक्षरों से निर्मित यमक अनन्तरपाद मुरजबन्ध है। (श्लोक न. 48, 64 और 66 भी देखें)

इस श्लोक का अनन्तरपाद मुरज-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

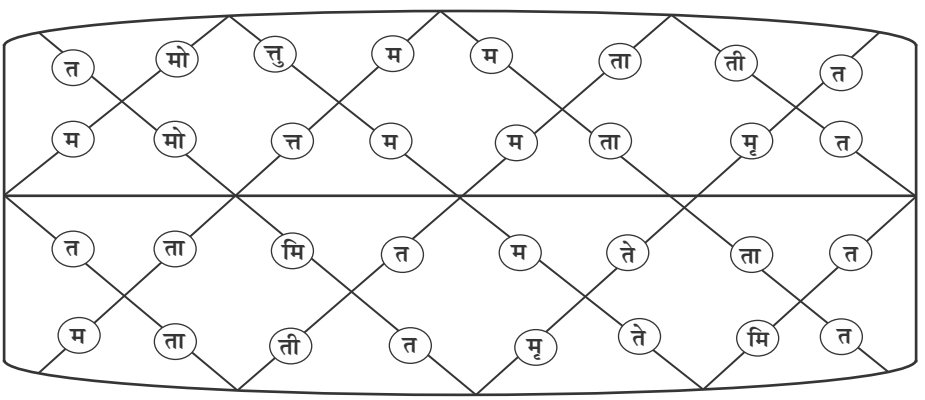

चित्र-८४ (अनन्तरपादमुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

स्वचित्तपटयालिख्य जिनं चारु भजत्ययम् ।
शुचिरूपतया मुख्यमिनं पुरुनिजश्रियम् ॥१०१॥

अन्वयार्थ - हे पार्श्वनाथ भगवान्! आप **[शुचिरूपतया]** अत्यन्त शुद्ध-स्वरूप हैं, **[पुरुनिजश्रियं]** महान् निज-लक्ष्मी - अनन्त-चतुष्टय - से सम्पन्न हैं, **[मुख्यं]** सबमें मुख्य अर्थात् सबके स्वामी हैं, **[जिनं]** कर्म-रूपी शत्रुओं को जीतने वाले हैं। **[अयं]** यह (आचार्य समन्तभद्र) **[इनं]** आपको इस प्रकार मानकर तथा **[चारु]** सुन्दर रीति से **[स्वचित्तपटे]** स्वकीय चित्तपटल पर **[आलिख्य]** लिखकर अर्थात् अपने चित्त में आपको विराजमान कर, **[भजति]** आपकी आराधना करता है।

हे भगवान्! मैं आपके अत्यन्त शुद्ध-स्वरूप को भली प्रकार से जानकर अपने चित्तपटल पर विराजमान करता हूँ, अपने मन में धारण करता हूँ, निरन्तर आपकी आराधना करता हूँ। जो भव्य-प्राणी आपकी इस प्रकार से आराधना करता है, वह आप जैसा बन जाता है।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

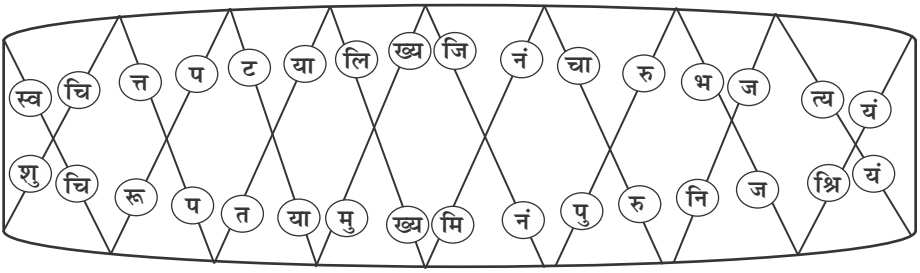

चित्र-८५ (मुरजबन्ध)

श्री वीर जिन

चिह्न – सिंह

प्रथम गणधर – श्री इन्द्रभूति (गौतम) स्वामी

ॐ श्री वर्धमान-जिन-स्तुतिः ॐ

(मुरजबन्धः)

धीमत्सुवन्द्यमान्याय कामोद्वामितवित्तृषे ।
श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे ॥१०२॥

अन्वयार्थ - हे स्वामिन्! **[धीमत्सुवन्द्यमान्याय]** आप अत्यन्त बुद्धिमानों - चार ज्ञान के धारक गणधर आदि - के द्वारा वन्दनीय और पूज्य हैं। **[कामोद्वामित वित्तृषे]** आपने ज्ञान की तृष्णा को बिल्कुल नष्ट कर दिया है अर्थात् आपको केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई है जिससे आपकी ज्ञान-विषयक समस्त जिज्ञासाएँ समाप्त हो गई हैं। **[श्रीमते]** आप अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी से युक्त हैं। **[नमितविद्विषे]** आपके शत्रु भी आपको नमस्कार करते हैं, आपकी अलौकिक शान्ति और लोकोत्तर प्रभाव को देखकर आपके विरोधी-वैरी भी आपके समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं। ऐसे **[वर्धमानाय]** वर्धमान भगवान् के लिए **[नमः]** मेरा नमस्कार हो।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

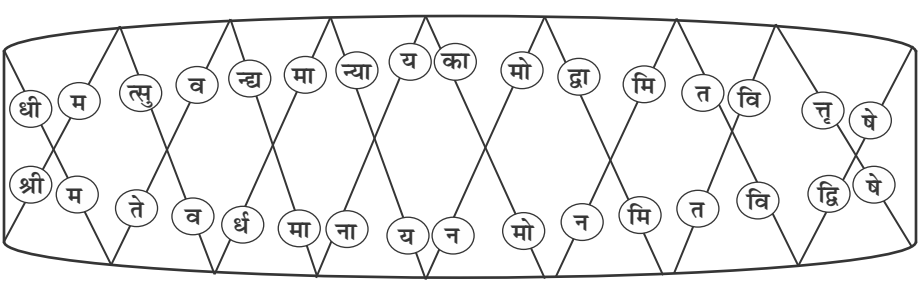

चित्र-८६ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

वामदेव क्षमाजेय धामोद्यमितविज्जुषे ।
श्रीमते वर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ॥१०३॥

अन्वयार्थ - **[वामदेव]** आप चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र आदि प्रधान पुरुषों के भी स्वामी हो। **[क्षमाजेय]** आपका क्षमागुण सर्वथा अजेय है। **[धामोद्यमितविज्जुषे]** आप तेज से प्रकाशमान उत्कृष्ट केवलज्ञान को प्राप्त हुए हो। **[मितविद् विषे]** आप परिमित ज्ञान की तृष्णा के विनाशक हो अर्थात् आप मति-श्रुत आदि क्षायोपशमिक ज्ञान का निराकरण करने वाले हो। **[श्रीमते]** आप अन्तरंग (अनन्त-चतुष्टय) और बहिरंग (समवसरणादि) लक्ष्मी से युक्त हो। **[नमोन]** आप परिपूर्ण ज्ञान के धारक हो। **[वर्धमानाय]** आपके द्वारा प्रचलित मोक्षमार्ग वृद्धि को प्राप्त है। इसलिए वर्धमान भगवान् आपको मेरा नमस्कार हो।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

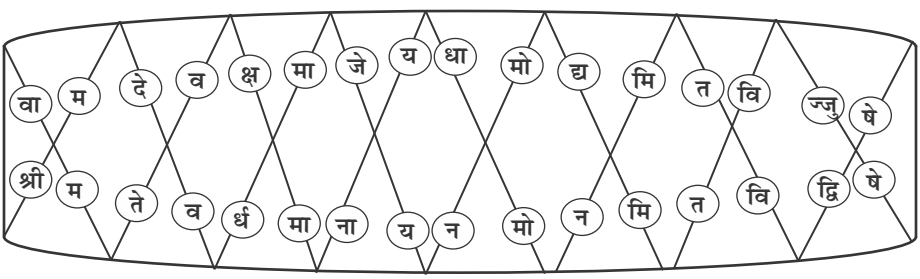

चित्र-८७ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

समस्तवस्तुमानाय तमोघ्नेमितवित्त्विषे ।
श्रीमतेवर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ॥१०४॥

अन्वयार्थ - [**श्रीम**] लक्ष्मीवान्! श्री अर्थात् केवलज्ञानरूप लक्ष्मी का अनुभव करने वाले! [**समस्तवस्तुमानाय**] आप तीन लोक और त्रिकालस्थ सर्वपदार्थों को जानने वाले हैं। [**तमोघ्ने**] आप अज्ञान अथवा मोहरूप अन्धकार का नाश करने वाले हैं। [**अमित-वित्त्विषे**] आप अपरिमित एवं विशिष्ट कान्ति के धारक हैं - सर्वांग सुन्दर हैं - अथवा आपका वित्त्विट् - केवलज्ञान - अपरिमित है। [**अवर्धमानाय**] आप अविछिन्न केवलज्ञान से सम्पन्न हैं, आपका केवलज्ञान विच्छेद से रहित है, अखण्ड है। [**नमोन**] 'मा' पृथिवी, 'ऊन' रहित, 'न' नहीं - आप संसारिक पृथिवी से रहित होते हुए भी अखण्ड केवलज्ञान रूप पृथिवी के स्वामी हैं। [**मितविद्विषे**] ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिये हैं शत्रु जिन्होंने, अर्थात् आपने अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप शस्त्र के द्वारा अन्तरंग और बहिरंग शत्रुओं का नाश कर दिया है। अतः हे प्रभो! [**ते**] आपके लिये नमस्कार हो।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

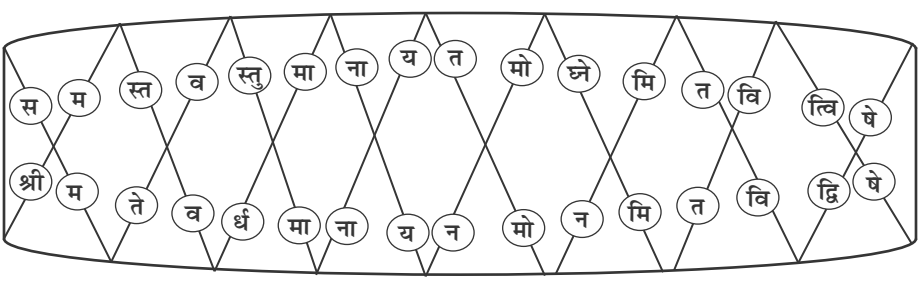

चित्र-८८ (मुरजबन्ध)

(मुरजबन्धः)

प्रज्ञायां तन्वृतं गत्वा स्वालोकं गोर्विदास्यते ।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते ॥१०५॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! **[तनु प्रज्ञायां]** (ये संसारी प्राणी) अपनी तुच्छ (अल्प) बुद्धि के अनुसार थोड़े से पदार्थों को **[ऋतं]** सत्यरूप **[गत्वा]** जान कर **[स्वालोकं]** अपने ज्ञान को **[गोः]** सारी पृथिवी का **[विदा]** ज्ञाता **[अस्यते]** जानते हैं, मान बैठते हैं। परन्तु भगवन्! **[यज्ज्ञानान्तर्गतं]** आपके ज्ञान (केवलज्ञान) के अन्तर्गत **[भूत्वा]** प्रतिबिम्बित-होकर **[त्रैलोक्यं]** (चौदह राजु प्रमाण) तीन लोक **[गोष्पदायते]** गाय के खुर में स्थित चुल्लु-प्रमाण जल के समान मालूम होते हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने इस श्लोक में संसारी प्राणी के ज्ञान और भगवान् महावीर के ज्ञान का कथन व्यतिरेक अलंकार से किया है। संसारी प्राणी अपने क्षयोपशम के अनुसार थोड़े से पदार्थों को जान कर अपने आप को बहुज्ञानी समझने लगते हैं और फिर हर्ष या मद करते हैं। परन्तु भगवान् महावीर का ज्ञान इतना विशाल है कि उसमें तीनों लोक गाय के खुर में स्थित चुल्लु-प्रमाण जल के समान अत्यन्त तुच्छ मालूम होते हैं। उनका केवलज्ञान यदि समुद्र है तो उसके सामने ये तीनों लोक गोष्पद हैं, अत्यन्त अल्प हैं।

इस श्लोक का मुरजबन्ध-चित्रालंकार इस प्रकार से है-

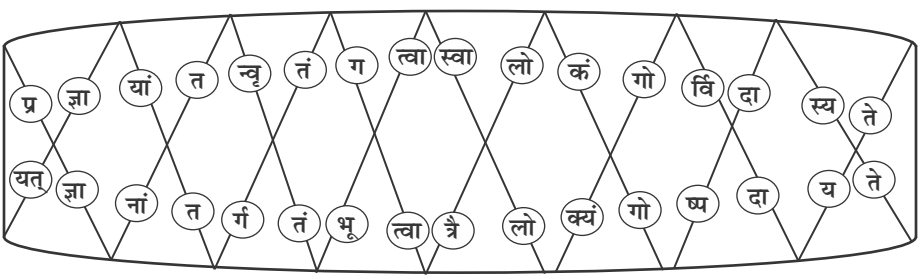

चित्र-८९ (मुरजबन्ध)

(श्लोकयमकः)

को विदो भवतोपीड्यः सुरानतनुतान्तरम् ।
शं सते साध्वसंसारं स्वमुद्यच्छन्नपीडितम् ॥१०६॥

अन्वयार्थ - हे वर्धमान स्वामिन्! [**भवतः**] आपके अतिरिक्त [**कः**] ऐसा कौन [**ईट्**] स्वामी है, सामर्थ्यशाली है [**यः**] जो कि [**सुरान्**] देवों को [**अपि**] भी [**विदः**] ज्ञान [**अतनुत**] दे सकता हो (ज्ञान का सम्पादन करावे) और [**सते**] भव्य पुरुषों के लिये [**आन्तरं**] आत्मोत्थ (आन्तरिक), [**असंसार**] संसार-रहित (उत्कृष्ट) तथा [**अपीडितं**] बाधा-रहित (अविच्छिन्न) [**साधु**] प्रशंसनीय [**शं**] सुख (मोक्ष-सम्बन्धी सुख) [**यच्छत्**] देता हुआ भी [**स्वमुत्**] स्वयं विनष्ट-राग (राग से रहित) हो? हे नाथ! ऐसे आप ही हो, अतः आपको नमस्कार हो।

सांसारिक मिथ्यादृष्टि लोग जिन्हें ईश्वर मानते हैं वे स्वयं अल्पज्ञानी हैं, वस्तु-स्वरूप के यथार्थ ज्ञाता नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में वे जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान के धारण करने वाले देवों को क्या ज्ञान दे सकते हैं? आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि भगवान् महावीर का केवलज्ञान तीनों लोकों और तीनों काल सम्बन्धी पदार्थों को स्पष्ट जानता है, और इसलिये वे देवों को भी ज्ञान देने में समर्थ हैं। भगवान् महावीर के समवसरण में चारों प्रकार के देव-देवांगनाएँ उपस्थित होकर धर्मोपदेश सुनते हैं, और सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं।

संसार के माने हुए ईश्वर स्वयं संसार के दुःखों से दुःखी हैं। उनकी आराधना से और उनके उपदेश से यदि किसी को सुख प्राप्त होता भी है तो वह सुख बाह्य, हीन, संसार को बढ़ाने वाला और बाधक कारणों के मिलने पर नष्ट हो जाने वाला ही होता है। इतना होने पर भी वे अपने को परम परोपकारी समझ कर हर्षित होते हैं तथा अहंकार से युक्त होते हैं। परन्तु हे भगवन्! आपकी आराधना से तथा उपदेश से जो सुख प्राप्त होता है वह उससे सर्वथा विपरीत है। आप भव्य जीवों को आत्मीय, उत्कृष्ट, बाधा-रहित और मोक्ष-सम्बन्धी सुख प्रदान करते हैं। इतना होने पर भी आप राग से सर्वथा रहित रहते हैं। आपको हर्ष-विषाद तथा अहंकार आदि कुछ भी नहीं होता है। इन विशेषताओं को दृष्टिगत करके आचार्य

समन्तभद्र ने ठीक ही कहा है कि हे भगवन्! आप जैसा ईश्वर और कोई नहीं है, आप अनुपम हैं। आपको हमारा नमस्कार हो।

जैसा कि पहले (श्लोक न. 5 के अन्तर्गत) बताया जा चुका है, एक ही श्लोक की पुनरावृत्ति - दोनों श्लोकों के अक्षरों में भिन्नता न होते हुए भी वे भिन्न-भिन्न अर्थ को लिये हुए हों - तब महा-यमक अलंकार होता है। श्लोक न. 106 तथा 107 में भी यही विशेषता है।

(यमकः)

कोविदो भवतोपीड्यः सुरानत नुतान्तरम् ।
शंसते साध्वसं सारं स्वमुद्यच्छन्नपीडितम् ॥१०७॥

अन्वयार्थ - **[सुरानत!]** हे देवों के द्वारा पूजनीय प्रभो! **[कोविदः]** जो बुद्धिमान्, ज्ञानी पुरुष **[ईडितं अपि]** आप पूजनीय की भी **[नुतान्तरं]** विशिष्ट स्तुति-स्तोत्रों के द्वारा **[शंसते]** स्तुति करता है, पूजा करता है, हृदय में धारण करता है, वह **[साध्वसं]** शीघ्र ही **[सारं]** सारभूत **[स्वं]** अपनी आत्मा का **[उद्यच्छन्]** अनुभव करता हुआ **[भवतः]** संसार से **[अपीड्य]** पीड़ा-रहित हो जाता है। वह संसार के जन्म-मरण के दुःख नष्ट कर स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेता है। इसलिये, हे भगवन्! मैं भी तरह-तरह के स्तोत्रों से आपकी स्तुति कर रहा हूँ; मुझे भी मोक्ष-सुख प्रदान कीजिये।

श्लोक न. 106 और 107 यमक अलंकार से युक्त हैं।

(समुद्गकयमकः)

अभीत्यावर्द्ध मानेनः श्रेयोरुगुरुसंजयन् ।
अभीत्या वर्धमानेन श्रेयोरुगुरु संजयन् ॥१०८॥

अन्वयार्थ - **[वर्धमान्!]** हे वर्द्धमान् भगवन्! **[इन!]** हे स्वामिन्! **[ऋद्ध]** आप वृद्ध हैं, ज्ञानादि गुणों से वृद्धि को प्राप्त हैं, **[अनेनः]** आप पाप-रहित अवस्था को प्राप्त हैं। **[श्रेय!]** हे परमपूज्य! **[उरुगुः]** आप उत्कृष्ट दिव्यध्वनि को धारण करने वाले हैं ('उ' निपातः), **[संजयन्]** कर्म-शत्रुओं को सम्यक् प्रकार से जीतने वाले हैं, **[रुगुरु]** कान्ति में महान् हैं और **[श्रेयः]** सुख में **[संजयन्]** लीन हैं। **[अतः]** इसलिए **[अभीत्या!]** हे अभय से अथवा दया से उपलक्षित प्रभो! **[अभीत्य]** मेरे हृदय में विराजमान होकर **[मा]** मेरी **[अव]** रक्षा करो। मुझे संसार के दुःखों से छुड़ाओ।

इस श्लोक में समुद्गकयमक अलंकार है। जैसे अक्षर पूर्वार्द्ध और पश्चार्द्ध में हैं, वैसे ही तृतीय और चतुर्थ पाद में हैं। (देखें, श्लोक न. 5 के अन्तर्गत यमक अलंकार की व्याख्या।) श्लोक न. 25 तथा 52 में भी यह अलंकार आ चुका है।

चित्र-९० (समुद्गकयमक)

(द्व्याक्षरवृत्तं शार्दूलविक्रीडितम्)

नानानन्तनुतान्त तान्ततिनिनुन्नुन्नान्त नुन्नानृत,
नूतीनेन नितान्ततानितनुते नेतोन्नतानां ततः ।
नुन्नातीततिनून्नतिं नितनुतान्नीतिं निनूतातनु-
न्तान्तानीतिततान्नुतानन नतान्नो नूतनैनोत्तु नो ॥१०९॥

अन्वयार्थ - [**नानानन्तनुतान्त**] हे नाना-अनन्त-नुतान् प्रभो! अनेक भव्य जीव विविध प्रकार की स्तुतियों से आपके अनन्त गुणों की स्तुति करते हैं। [**तान्ततिनिनुत्**] आप (तान्तित) दु:खों को (निनुत्) नष्ट करने वाले हैं। [**नुन्नान्त**] आप अन्त का नाश करने वाले - अन्त-रहित - अर्थात् अविनाशी हैं। [**नुन्नानृत**] आपने अनृत (असत्य) को नष्ट कर दिया है अर्थात् एकान्तवादरूप वस्तु के असत्य को आपने नष्ट कर दिया है। [**नूतीनेन**] आप नमस्कार करने वालों के स्वामी हैं अर्थात् गणधरादि महापुरुषों के स्वामी हैं। [**नितान्ततानितनुते**] नितान्त-तानितनुते - अति रूप से विस्तृत की गई है कीर्ति जिनकी - अर्थात् गणधरादि महापुरुषों ने आपके शासन का प्रचार कर आपका उज्ज्वल यश सब ओर विस्तृत किया है। [**उन्नतानां नेता**] आप उन्नत (उत्तम) गणधरादि तथा इन्द्रादि पुरुषों के नायक हैं, उनसे पूजित हैं। [**ततः**] इसलिए [**निनूत**] हे परम पूज्य! [**नुतानन**] प्रशंसनीय मुख वाले अथवा स्तुत्य है मुख जिनका, ऐसे हे भगवन्! [**नुन्नातीति तनून्नतिं**] (हमें) जिससे शरीर की वृद्धि (शरीर की परम्परा) का नाश हो ऐसी [**अतनुं**] महान् [**नीतिं**] बुद्धि वितरित करें, देवें। [**तान्तान्**] (हम लोग) संसारी दु:खों से पीड़ित हैं, [**ईतिततान्**] मानसिक-शारीरिक व्याधियों से व्याप्त हैं, और [**नतान्**] आपके चरणों में विनत हैं। [**नः**] हम सांसारिक प्राणियों के [**नूतनैनः**] नूतन पापों को [**अत्तु**] भक्षण करो अर्थात् मेरे कर्मों के आस्रव को रोको। और [**नो नितनुतात्**] पुरातन कर्मों का नाम न रहे। हे प्रभो! हमारे नवीन बँधने वाले पापों को नष्ट कीजिये तथा संवर और निर्जरा की पूर्ण कला

सिखलाकर हमें शीघ्र बन्धन-मुक्त कीजिये।

यहाँ शार्दूल-विक्रीडित वर्णिक छन्द (वृत्त) है। इस वर्णवृत्त में चार चरण होते हैं; सभी चरणों में वर्णों का संख्या 19 रहती है। केवल दो अक्षर 'न' और 'त' से निर्मित होने के कारण यह छन्द द्व्याक्षरवृत्त भी है।

(चक्रवृत्तम्)

वंदारुप्रबलाजवंजवभयप्रध्वंसिगोप्राभव
वर्द्धिष्णो विलसद्गुणार्णव जगन्निर्वाणहेतो शिव ।
वंदीभूतसमस्तदेव वरद प्राज्ञैकदक्षस्तव
वंदे त्वावनतो वरं भवभिदं वर्यैकवंद्याभव ॥११०॥

अन्वयार्थ - हे भगवन्! **[वंदारुप्रबलाजवंजवभयप्रध्वंसिगोप्राभव]** आपकी दिव्यध्वनि के माहात्म्य से आपकी भक्ति, स्तुति, वन्दना करने वाले संसारी प्राणियों के संसार-सम्बन्धी प्रचुर (महा) भय का नाश हो जाता है। **[विलसद्गुणार्णव]** आप प्रशंसनीय ज्ञानादि गुणों से शोभायमान हो, आपका गुणरूपी समुद्र अत्यन्त सुन्दर है। **[जगन्निर्वाणहेतो]** आप भव्य जीवों के निर्वाण के कारणभूत हो, आप संसारी जीवों की मुक्ति के कारण हो, कल्याणरूप हो। **[वंदीभूतसमस्तदेव]** समस्त देव आपके बन्दी हैं अर्थात् चारण हैं; निरन्तर आपके गुणगान, स्तुति में रत रहते हैं। **[वरद]** आप भव्य जीवों को मनोवाञ्छित वरों (वस्तु) को देने वाले हो। **[वर्द्धिष्णो!]** हे वर्द्धनशील! **[शिव!]** हे परम कल्याणकारी! **[प्राज्ञैकदक्षस्तव]** श्रेष्ठ ज्ञानियों में प्रधान! बड़े-बड़े दक्ष (चतुर) मनुष्य आपका स्तवन किया करते हैं। **[वर्य!]** हे श्रेष्ठ! आप सर्वोत्कृष्ठ हो। **[एकवंद्य!]** हे अद्वितीय-वन्दनीय! **[अभव!]** हे संसार-परिभ्रमण से रहित भगवन्! आप पञ्च-परावर्तनरूप संसार से रहित हो। **[भवभिदं]** आप भव (संसार) के भेदक (छेदक) हैं। **[वरं!]** हे श्रेष्ठ! **[त्वा]** आपको **[अवनतः]** भक्ति से प्रणत होता हुआ मैं **[वंदे]** नमस्कार करता हूँ।

यहाँ चक्रवृत्त अलंकार है। छह अरों वाला एक चक्र बनाकर अरों के बीच में प्रारम्भ के तीन पाद लिखने चाहियें। अवशिष्ट चतुर्थ पाद नमि-चक्रधारा (अन्तिम परिधि) में लिखना चाहिये।

इस अलंकार में कभी-कभी अपना इष्टतम - मनचाहा - पाद गूढ़ भी हो जाता है अर्थात् उस पाद के समस्त अक्षर शेष के तीन पादों में समाविष्ट हो जाते हैं, जैसा कि इस ग्रन्थ के श्लोक न. 111 और 112 में हुआ है। कभी-कभी कवि और काव्य का नाम भी श्लोक के किसी वलय में आ जाता है, जैसा कि श्लोक न. 116 में बाहर से भीतर की ओर सातवें वलय में 'शान्तिवर्मकृतं' आया है। शान्तिवर्मा आचार्य समन्तभद्र का जन्मनाम कहा जाता है, जो उनके क्षत्रिय कुलोत्पन्न होने का द्योतक है। साथ ही बाहर से चौथे वलय में 'जिनस्तुतिशतं' पद की उपलब्धि होती है जो इस ग्रन्थ का ही दूसरा नाम है।

इसका चित्र इस प्रकार है-

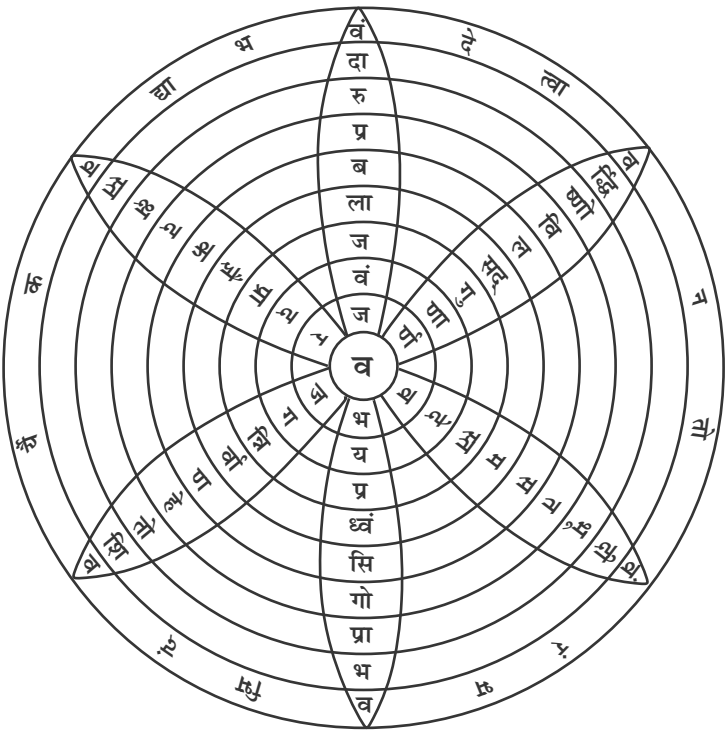

चित्र-९१ (चक्रवृत्त)

(इष्टपादवलयप्रथमचतुर्थसप्तमवलयैकाक्षरचक्रवृत्तम्)

नष्टाज्ञान मलोन शासनगुरो नम्रंजनं पानिन
नष्टग्लान सुमान पावन रिपूनप्यालुनन् भासन ।
नत्येकेन रुजोन सज्जनपते नन्दन्ननन्तावन
नन्त्रृन्[1] हानविहीनधामनयनो नः स्तात्पुनन् सज्जिन ॥१११॥

अन्वयार्थ - **[इन]** हे स्वामिन्! **[नष्टाज्ञान]** आप अज्ञान-रहित हैं, आपका अज्ञान नष्ट हो गया है। **[मलोन]** आप कर्ममलहीन हैं, आप कर्ममल से रहित हैं। **[शासनगुरो]** आप स्याद्वादमय जैन शासन अथवा अप्रतिहत आज्ञा के स्वामी हैं, आपका शासन अलंघ्य, अखण्डित और अबाधित है। **[नष्टग्लान]** आप मूर्च्छारूप अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं। **[सुमान]** आप प्रशंसनीय ज्ञान के धारक हैं, आपका ज्ञान अत्यन्त शोभायमान है। **[पावन]** आप परम पवित्र हैं। **[भासन]** आप शोभमान, प्रकाशमान हैं। **[नत्येकेन]** आप नमस्कार के मुख्य स्वामी हैं, इन्द्रादि प्रधान-पुरुष आपको ही नमस्कार करते हैं। **[रुजोन]** आप सर्व रोगों से रहित हैं। **[सज्जनपते]** आप सज्जन (भव्य) पुरुषों के अधिपति हैं। **[अनन्त]** आप अन्त-रहित हैं, आपकी सिद्ध-पर्याय अन्त-रहित है। **[अवन]** आप सब के - अनन्त प्राणियों के रक्षक हैं। **[सज्जिन]** आप कर्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले होने के कारण सज्जिन हैं, वास्तव में जिन हैं। हे भगवन्! **[नम्रं]** नम्रं (नमस्कार करने वाले) **[जनं]** मनुष्यों की **[पान्]** रक्षा करते हुए, **[रिपून्]** काम-क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को **[अपि]** भी **[आलुनन्]** नष्ट करते हुए, **[नन्त्रृन्]** स्तुति (नमस्कार) करने वालों को **[नन्दन्]** (धन-धान्य, ऋद्धि-सिद्धि से) समृद्ध-सम्पन्न करते हुए, और **[नः]** मुझ (आचार्य समन्तभद्र) को (तथा सम्पूर्ण भव्य जीवों को) **[पुनन्]** पवित्र (राग-द्वेष से

1. पाठान्तर - **नन्तॄन्**

रहित) करते हुए, **[हानविहीनधामनयनः]** हानिविहीन (क्षय-रहित) केवलज्ञान लोचन वाले आप **[स्तात्]** चिरकाल तक जयवन्त रहें।

यहाँ भी श्लोक न. 110 की तरह चक्रवृत्त अलंकार है। साथ में इष्टपादवलय प्रथम, चतुर्थ, सप्तम वलय एकाक्षर भी है। इसमें अपना इष्टतम - मनचाहा - पाद गूढ़ हो जाता है, अर्थात् उस पाद के समस्त अक्षर शेष के तीन पादों में समाविष्ट हो जाते हैं। इस चक्रवृत्त के गर्भ में जो 'न' अक्षर है वह छहों अरों के प्रथम, चतुर्थ और सप्तम वलय में भी स्थित है, अतः 19 बार लिखा जाकर 28 बार पढ़ा जाता है।

इसका चित्र इस प्रकार है-

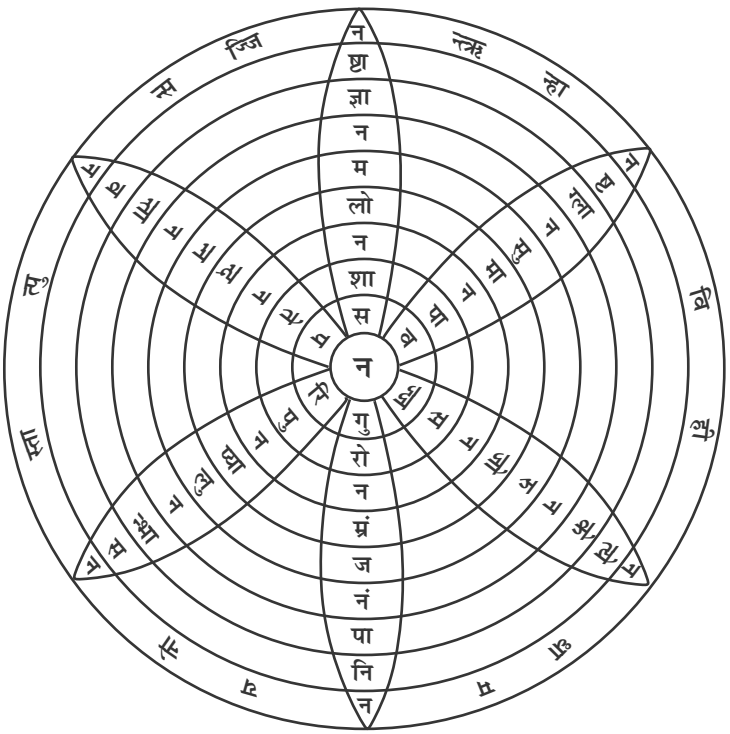

चित्र-९२ (चक्रवृत्त)

(इष्टपादवलयप्रथमचतुर्थसप्तमवलयैकाक्षरचक्रवृत्तम्)

रम्यापारगुणारजस्सुरवरैरर्च्यार्क्षर श्रीधर
रत्यूनारतिदूर भासुर सुगीरर्य्योत्तरर्द्धीश्वर ।
रक्तान् क्रूरकठोरदुर्द्धररुजोरक्षन् शरण्याजर
रक्षाधीर सुधीर विद्वर गुरो रक्तं चिरं मा स्थिर ॥११२॥

अन्वयार्थ - [**रम्य!**] हे रमणीय! [**अपारगुण!**] हे केवलज्ञानादि अनन्तगुणों के धारक! [**अरजः!**] हे ज्ञानावरणादि कर्मरज के समूह से रहित! [**सुरवरैः अर्च्य!**] हे इन्द्रों के द्वारा पूजनीय भगवन्! [**अक्षर!**] हे अविनाशी! [**श्रीधर!**] हे समवसरणरूप बहिरंग और अनन्त-चतुष्टयरूप अन्तरंग लक्ष्मी के धारक! [**रत्यून!**] हे रागहीन! [**अरतिदूर!**] हे द्वेषभाव से दूर रहने वाले! [**भासुर!**] हे देदीप्यमान, शोभायमान! [**सुगीः!**] हे उत्तम वाणी के स्वामी! [**अर्य्य!**] हे स्वामिन्! [**उत्तरर्द्धीश्वर!**] हे उत्कृष्ट ऋद्धियों के धारक! [**शरण्य!**] हे शरणदाता! हे रक्षक! [**अजर!**] हे जरा-रहित, अजर-अमर! [**आधीर!**] हे मानसिक व्याधियों - आधि - को हरने वाले! [**सुधीर!**] हे क्षोभ-रहित! [**विद्वर!**] हे विद्वानों में श्रेष्ठ! [**गुरो!**] हे गुरुवर्य! [**स्थिर!**] हे नित्य स्थिर भगवन्! श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र! आप [**रक्तान्**] अपने भक्तजनों की [**क्रूरकठोरदुर्द्धररुजः**] क्रूर (भयंकर), कठोर (निष्ठुर) और दुर्द्धर रोगों से [**रक्षन्**] रक्षा करते हुए [**मा**] मुझ [**चिरं रक्तं**] चिरस्नेही भक्त (आचार्य समन्तभद्र) की भी [**रक्ष**] रक्षा कीजिये।

यहाँ भी, श्लोक न. 111 की तरह, चक्रवृत्त के गर्भ में जो 'र' अक्षर है वह छहों अरों के प्रथम, चतुर्थ और सप्तम वलय में भी स्थित है। इस प्रकार से 'र' अक्षर चारों चरणों का प्रथम तथा अन्तिम अक्षर, साथ ही प्रत्येक चरण का 10वाँ अक्षर, 13वाँ अक्षर और 16वाँ अक्षर भी है।

इसका चित्र इस प्रकार है-

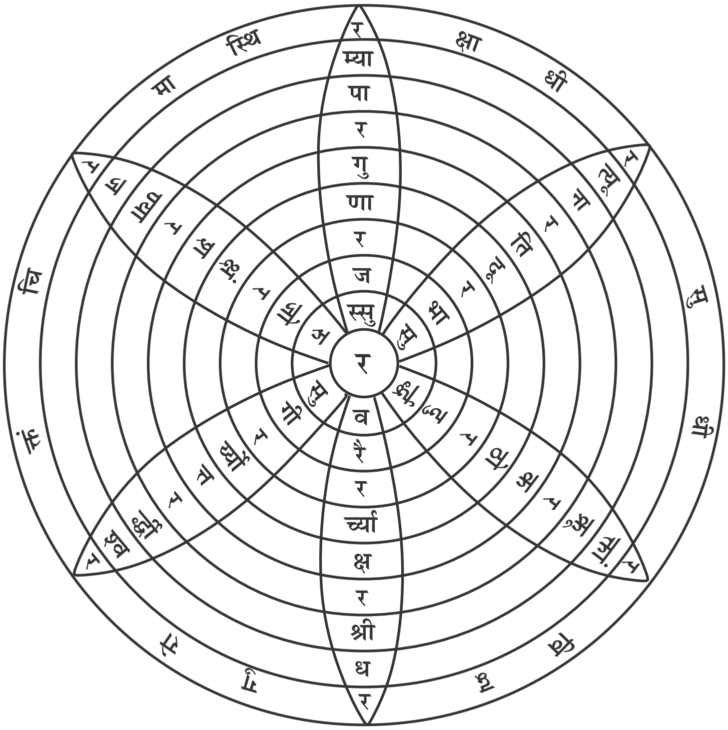

चित्र-९३ (चक्रवृत्त)

ॐ उपसंहार ॐ

(चक्रवृत्तम्)

प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे
जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे ।
मांगल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वा स्तुते
ते ज्ञा ये प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते ॥११३॥

अन्वयार्थ - हे प्रभो! [**प्रज्ञा**] बुद्धि [**सा**] वही है [**या**] जो [**इति**] अतिशय रूप से [**तव**] आपका [**स्मरति**] स्मरण करे, ध्यान करे। [**शिरः**] मस्तक [**तत्**] वही है [**यत्**] जो [**ते**] आपके [**पदे**] चरणयुगल में [**नतं**] नत रहे, जो आपके चरणों में झुका रहे। [**अदः**] वही [**जन्म**] जन्म [**परं**] श्रेष्ठ और [**सफलं**] सफल है [**यत्र**] जिस जन्म में [**भवभिदी**] भव को अर्थात् संसार-परिभ्रमण को नष्ट करने वाले [**ते**] आपके [**पदे**] चरणों का [**आश्रिते**] आश्रय लिया गया हो। [**च**] और [**सः**] वही मानव [**मांगल्यं**] परम पवित्र है [**यः**] जो [**तव**] आपके [**मते**] मत में [**रतः**] लीन हो, अनुरक्त हो। [**सा**] वह [**एव**] ही [**गीः**] वाणी है [**या**] जो [**त्वा**] आपकी [**स्तुते**] स्तुति करे। [**ते**] वे [**जनाः**] मानव [**ज्ञाः**] पण्डित-ज्ञानी हैं [**ये**] जो [**ते देवाधिदेवस्य**] आप देवाधिदेव के [**क्रमयुगे**] दोनों चरणों में [**प्रणता**] नत रहते हैं, झुके रहते हैं।

आचार्यवर्य श्री समन्तभद्र स्वामी चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति कर कृतकृत्य होकर अब अन्त में अपने स्तोत्र का उपसंहार करते हैं।

संसार में वही बुद्धिमान है, पण्डित है, ज्ञानी है, जो निरन्तर देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों में प्रकर्ष रूप से नत रहे।

इस श्लोक में परिसंख्या अलंकार है। इस अलंकार का लक्षण है- सर्वत्र (सब में) संभव

होने वाली वस्तु का किसी एक में ही नियम कर देना परिसंख्या अलंकार कहलाता है। इस श्लोक में बुद्धि, शिर (मस्तक), जन्म की श्रेष्ठता, मानव की पावनता, वाणी की सार्थकता और बुद्धिमता, इन सब को एक जिनभक्ति से नियमित कर दिया है, अतः यहाँ परिसंख्या अलंकार है।

चक्रवृत्त अलंकार का चित्रण निम्न प्रकार से है-

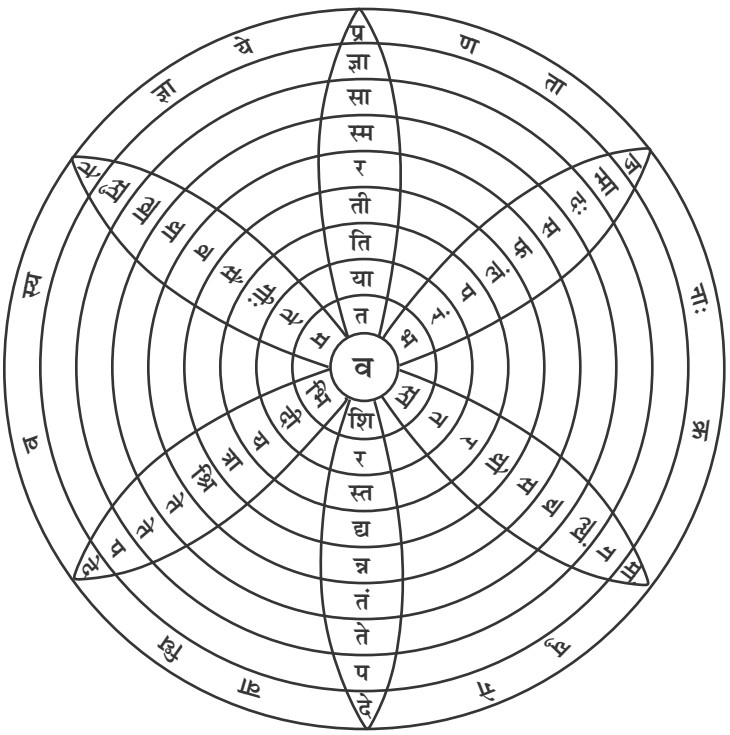

चित्र-९४ (चक्रवृत्त)

(चक्रवृत्तम्)

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्च्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

अन्वयार्थ - [**मम**] मेरी [**सुश्रद्धा**] श्रद्धा, रुचि, आस्था [**ते**] आपके [**मते**] मत में - अर्थात् आपके द्वारा प्रतिपादित स्याद्वादात्मक जिनशासन - में ही है। [**स्मृतिः अपि**] मैं स्मरण (चिन्तन) भी [**त्वयि**] आपका ही करता हूँ। [**अर्च्चनं अपि**] मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ। [**च**] और (मेरे) [**हस्तौ**] दोनों हाथ भी [**ते**] आपको [**अञ्जलये**] अंजुलि बाँधने (जोड़ने) के लिये ही हैं। [**कर्णः**] (मेरे) कान भी आपकी [**कथाश्रुतिरतः**] कथा सुनने में रत हैं। [**अक्षि**] (मेरी) आँखें भी (आपके रूप को) [**संप्रेक्षते**] देखने में लीन हैं, आपका दर्शन करती हैं। मेरा [**व्यसनं**] व्यसन (मन की अति-आसक्ति) [**सुस्तुत्यां**] आपकी शोभनीय स्तुति करने का ही है। मेरा [**शिरः**] शिर (मस्तक) भी [**नतिपरं**] आपको नमस्कार करने में तत्पर रहता है। [**तेजःपते!**] हे केवलज्ञानरूपी तेज के अधिपति! [**ईदृशी**] इस प्रकार से मैं [**ते**] आपकी [**एव**] ही [**सेवा**] सेवा करता हूँ, [**येन**] जिससे [**अहं**] मैं [**तेजस्वी**] तेजस्वी हूँ, [**सुजनः**] सुजन हूँ, और [**तेन**] इसलिये [**सुकृती**] पुण्यवान् [**एव**] ही हूँ।

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हे भगवन्! मेरी आस्था, श्रद्धा, रुचि केवल आपके द्वारा उपदिष्ट स्याद्वादात्मक मत में ही है। हे प्रभो! मैं निरन्तर आपका स्मरण-चिन्तन करता हूँ, अर्थात् मेरा मन सदा आपके गुणों के स्मरण में लगा रहता है।

आचार्य कहते हैं कि जिनेन्द्रदेव की आराधना करने वाले मनुष्य की आत्मा आत्मीय तेज से जगमगा उठती है, वह सर्वोत्कृष्ट पुरुष बनने की ओर सम्यक् रूप से अग्रसर हो जाता है। उसके महान् पुण्य का बन्ध होता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने आप को भगवान्

की आराधना करने के फल का अधिकारी बतलाया है। वे कहते हैं कि मैं संसार में जन्म को कृतार्थ करने वाला 'तेजस्वी', 'सुजन' अर्थात् सज्जन पुरुष, और 'पुण्यवान्' हूँ। स्वयं के लिये ऐसे महान् विशेषणों की अनुभूति परम्परा से मुक्ति का हेतु (कारण) है।

इस श्लोक में परिसंख्या अलंकार के साथ काव्यलिंग अलंकार भी है। काव्यलिंग अलंकार का लक्षण है- जहाँ हेतु वाक्यगत अथवा पदार्थगत होता है वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है। आचार्यदेव ने अपने मन, वचन, काय, हाथ, कर्ण, आँख, जन्म आदि सब को वर्द्धमान के प्रति अर्पित कर दिया है। अतः यहाँ परिसंख्या अलंकार है। इसके अलावा स्वयं को पुण्यवान्, सुजन बनने के हेतु का जो कथन किया है, वह वाक्य में गर्भित है। जैसे- मेरी श्रद्धा किस में है? आपके मत में ही है। अर्थात् आपका मत मेरी श्रद्धा का हेतु (कारण) है। मेरे हाथ जुड़ने का कारण भी आप ही हैं। इस प्रकार हेतु वाक्यपद में गर्भित है। अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है।

चक्रवृत्त अलंकार का चित्रण निम्न प्रकार से है-

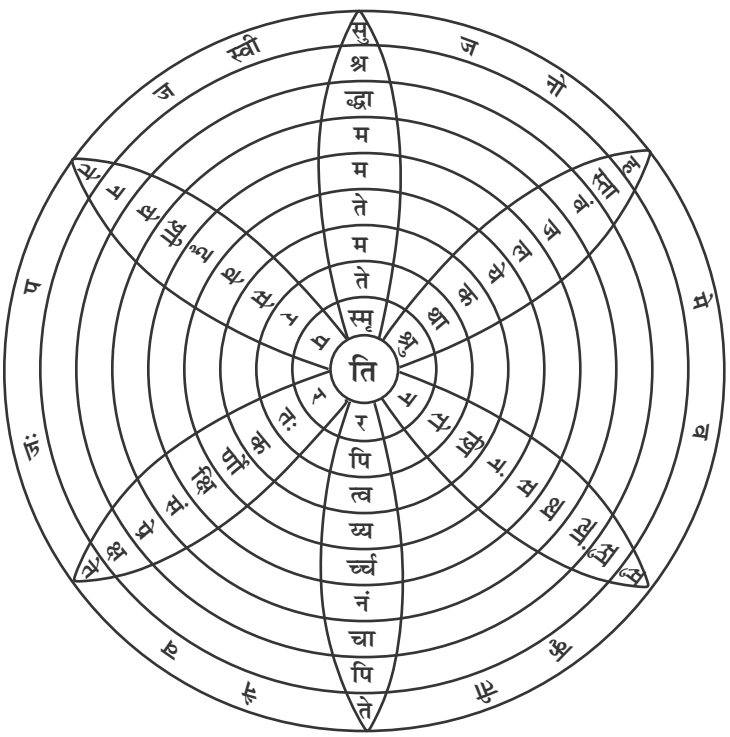

चित्र-९५ (चक्रवृत्त)

(चक्रवृत्तम्)

जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः पदे
भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा ।
वन्दीभूतवतोपि नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा
दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ॥११५॥

अन्वयार्थ - [**येषां**] जिन (वीतराग प्रभु) का [**स्तवः**] संस्तवन-स्तुति [**जन्मारण्यशिखी**] संसार रूपी अटवी को भस्म करने के लिये अग्नि के समान है। जिनका [**स्मृतिः अपि**] स्मरण भी [**क्लेशाम्बुधेः**] क्लेश (दुःख) रूप समुद्र को पार करने के लिये [**नौः**] नौका के समान है। जिनके [**पदे**] दोनों चरण-कमल [**भक्तानां**] भक्त पुरुषों के लिये [**परमौ**] परम-उत्कृष्ट [**निधी**] निधान-खजाने के समान हैं। जिनकी [**परा प्रतिकृतिः**] श्रेष्ठ प्रतिकृति-प्रतिमा [**सर्वार्थसिद्धिः**] सब कार्यों को सिद्ध कराने वाली है। [**च**] और जिन्हें [**मुदा**] हर्षपूर्वक, आनन्दविभोर होकर [**नन्तुः**] नमस्कार करने वाले एवं मंगलगान करने वाले [**वन्दीभूतवतः अपि**] नग्नाचार्य-रूप से रहते हुए भी (पक्ष में स्तुतिपाठक चारण-रूप से रहते हुए भी) मुझ (आचार्य समन्तभद्र) की [**नः उन्नतिहतिः**] उन्नति में कुछ बाधा नहीं होती है, अर्थात् भगवान् के चरणों में झुककर स्तुति, पूजा करने वाले की उन्नति की कुछ हानि नहीं होती है, अपितु वह महान्, उन्नत बन जाता है। [**ते**] वे [**देवेश्वराः**] देवों के देव जिनेन्द्र भगवान् [**सदा**] निरन्तर [**दातारः**] दानशील अर्थात् अक्षय-निधि को देने वाले, [**जयिनः**] स्वकीय विभाव-भावों अर्थात् कर्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराने वाले और [**वरदाः**] सर्व प्राणियों के मनोरथों को पूर्ण करने वाले अर्थात् इच्छित फल को देने वाले [**भवन्तु**] होवें।

इस श्लोक के पूर्वार्ध के दो चरणों में रूपक अलंकार है। भगवान् के स्तवन को अग्नि की और संसार को वन की उपमा दी गई है। दुःख को संसार-समुद्र कहा है और भगवान् के

स्मरण को नौका कहा है। भगवान् के चरण-कमल को निधान-खजाना कहा है और उनकी प्रतिकृति-प्रतिमा को सब कार्यों को सिद्ध कराने वाली कहा है।

तृतीय चरण में विरोधाभास अलंकार प्रयुक्त हुआ है जिसमें प्रथम दृष्ट्या विरोध प्रतीत होता है परन्तु दूसरा अर्थ करने पर वह विरोध दूर हो जाता है। वह इस प्रकार है- जो बन्दी, स्तुतिपाठक या चारण होकर किसी को नमस्कार तथा उसका गुणगान करता है वह लोक में बहुत ही अवनत - नग्नाचार्य (भांड) - कहलाता है। परन्तु आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि 'हे जिनेन्द्रदेव! मैं 'नग्नाचार्य' (पक्ष में दिगम्बर मुनि) आपकी स्तुति करता हूँ, आपके चरणों में अवनत हूँ, परन्तु मेरा यह अवनत होना मेरी अवनति का कारण नहीं, अपितु उन्नति का ही कारण हुआ है। आपके चरणों में अवनत होकर मैंने सातिशय पुण्य का बन्ध कर पहले से भी अधिक उत्कृष्टता को प्राप्त किया है।' विरोध का परिहार यही है कि महापुरुषों के संसर्ग से सब विरोध दूर हो जाते हैं।

चक्रवृत्त अलंकार का चित्रण निम्न प्रकार से है-

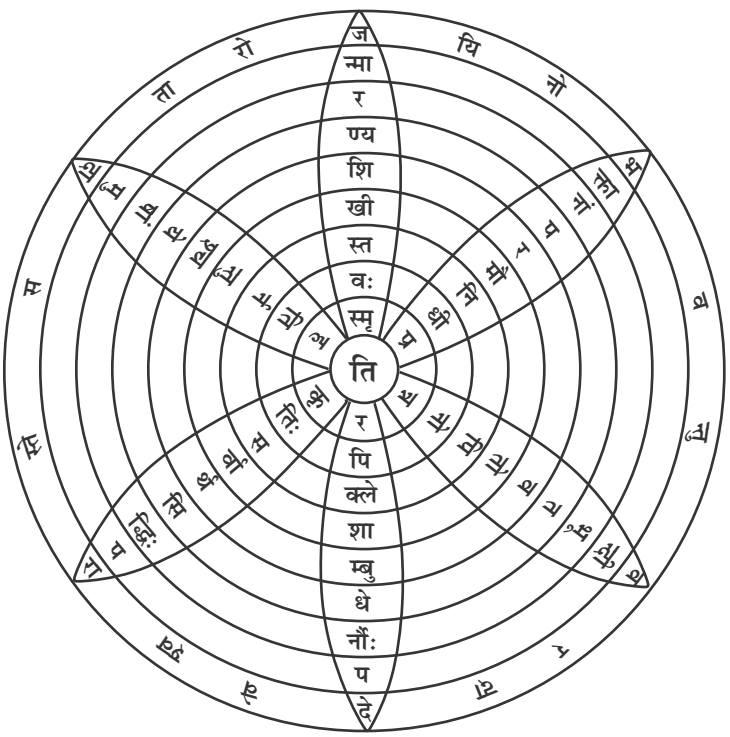

चित्र-९६ (चक्रवृत्त)

(कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्तम्)

गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना तं येच्युतं स्वीशते
यन्नत्यैति सुशर्म पूर्णमधिकां शान्तिं व्रजित्वाध्वना ।
यद्भक्त्या शमिताकृशाघमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये -
ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये ॥११६॥

अन्वयार्थ - [**ये**] जो [**अधुना**] इस समय [**एकस्तुतं**] परम पूज्य [**अच्युतं**] विनाश-रहित, अविनाशी [**एव**] ही [**तं**] उस [**वासं**] मोक्षस्थान को [**गत्वा**] पाकर [**स्वीशते**] परम ऐश्वर्य का अनुभव कर रहे हैं, [**यन्नत्या**] जिनको नमस्कार करने मात्र से [**पूर्णं**] पूर्णरूप से [**सुशर्म**] अनन्त सुख [**एति**] प्राप्त हो जाता है, [**यद्भक्त्या**] जिनकी भक्ति से [**जनः**] यह जीव (संसारी प्राणी) [**अधिकां**] अधिक [**शान्तिं**] शान्ति को [**व्रजित्वा**] प्राप्त होकर [**अध्वना**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मार्ग के द्वारा [**स्वालये**] स्वालय अथवा उत्तम-आलय अथवा आत्म-आलय अथवा मोक्ष-मन्दिर में [**तिष्ठेत्**] निवास करता है और उसके [**शमिताकृशाघं**] बड़े से बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं तथा [**अरुजं**] सब रोग दूर हो जाते हैं। [**ये**] जो [**यजते**] अपने पूजक भक्तों के लिए [**अतीव**] अति उत्कृष्ट [**सद्भोगकदाः**] समीचीन भोग प्रदान करते हैं [**ते**] वे [**जिनाः**] देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् [**मे**] मुझ (आचार्य समन्तभद्र) के लिए भी [**सुश्रिये**] मोक्षरूप लक्ष्मी के लिए ('भवन्तु' क्रिया का यहाँ पिछले श्लोक से अध्याहार किया गया है) [भवन्तु] प्रदाता होवें, अर्थात् मुक्तिश्री की प्राप्ति में मेरे प्रधान सहायक बनें।

छह अरों तथा नव वलयों से युक्त चक्राकार रचना बनाकर उसमें श्लोक को पूर्वोक्त विधि से लिखना चाहिये। इस श्लोक के (बाहर से) सातवें वलय में 'शान्तिवर्मकृतं' (कवि का नाम) और चौथे वलय में 'जिनस्तुतिशतं' (काव्य का नाम) पदों की उपलब्धि होती है। अतः यह श्लोक कविकाव्यनामगर्भ चक्रवृत्त कहलाता है।

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्यप्रवर स्वामी समन्तभद्र हैं। वे मुख्यतः चार विशेषणों 'कवि-गमक-वादि-वाग्मित्व' से अलंकृत थे, यह प्रसिद्ध है। उनका यश चूड़ामणि के समान सर्वोपरि था। टीकाकार आचार्य वसुनन्दी ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'तार्किकचूडामणि श्रीमत्समन्तभद्राचार्यविरचिता' लिखकर समन्तभद्राचार्य की ही इसका कर्ता घोषित किया है। ग्रन्थ के इस श्लोक में जो 'शान्तिवर्मकृतं' पद की उपलब्धि होती है उसको टीकाकार ने बिना किसी विवाद अथवा विरोध के स्वामी समन्तभद्र का ही नामान्तर माना है।
इस श्लोक का चक्रवृत्त अलंकार का चित्रण निम्न प्रकार से है-

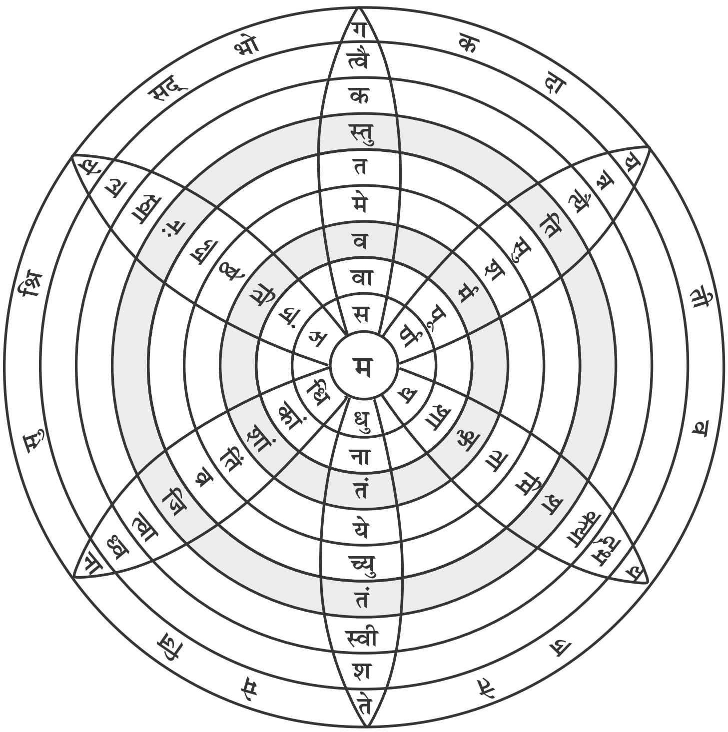

चित्र-९७ (चक्रवृत्त)

इति श्रीनिरवद्यस्याद्वादविद्याधिपति-सकलतार्किकचक्रचूडामणि-
श्रद्धागुणज्ञतादि-सातिशयगुणगणविभूषित-सिद्धसारस्वत-
स्वामिसमन्तभद्राचार्यवर्यप्रणीतं स्तुतिविद्या जिनस्तुतिशतमपरनाम समाप्तम् ।

सारस्वताचार्यों में प्रमुख, जिनशासन के प्रणेता, वाग्वज्र के कठोर पात के द्वारा वादिरूपी पर्वतों को चूर्ण-चूर्ण करने वाले, सप्तभंगी का परिष्कृत प्रयोग कर अनेकान्त की व्यवस्था प्रदर्शित करने वाले, कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व की पाण्डित्यकला से अलंकृत, तथा श्रीमत् इन्द्र भूपालों से और महान् योगियों से जिनके चरणयुगल पूजे जाते हैं, मैं अल्पबुद्धि भी, जैसे दीपक की ज्योति से सूर्य पूजा जाता है उसी के सदृश, अपना शिर झुकाकर तथा अपने दोनों हाथों को मस्तक पर लगाकर, उन भद्रमूर्ति समन्तभद्रस्वामी के चरणकमलों की भक्तिपूर्वक वन्दना करता हूँ।

* * *

आचार्य जिनसेन विरचित '**आदिपुराण**'-

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।
निष्ठितार्थो भवान् स्तुत्यः फलं नैःश्रेयसं सुखम् ॥ (२५-११)

इत्याकलय्य मनसा तुष्टूषुं मां फलार्थिनम् ।
विभो प्रसन्नया दृष्ट्या त्वं पुनीहि सनातन ॥ (२५-१२)

पवित्र गुणों का निरूपण करना स्तुति है, प्रसन्न बुद्धि वाला भव्य स्तोता अर्थात् स्तुति करने वाला है, जिनके सब पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके हैं ऐसे आप स्तुत्य अर्थात् स्तुति के विषय हैं, और मोक्ष का सुख प्राप्त होना उसका फल है। हे विभो! हे सनातन! इस प्रकार निश्चय कर हृदय से स्तुति करने वाले और फल की इच्छा करने वाले मुझको आप अपनी प्रसन्न दृष्टि से पवित्र कीजिये।

सहायक ग्रन्थ सूची

1. अनुवादक - पं. पन्नालाल जैन 'वसन्त', प्रस्तावना - पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' (1950), **स्तुतिविद्या (जिनशतक),** वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर.
2. सम्पादन - आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी (?), **श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्य विरचित स्तुतिविद्या (जिनशतक)**
3. भाषानुवाद - पं. लालारामजी (1912), **स्वामि समन्तभद्राचार्य विरचित जिनशतक,** स्याद्वादग्रंथमाला-1, प्रकाशक - पन्नालाल बाकलीवाल, काशी.
4 अनुवादक-सम्पादक - डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री (1973), **अजितसेनाचार्य विरचित अलंकार चिन्तामणि,** भारतीय ज्ञानपीठ, बी-45-47, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-110001, प्रथम संस्करण.
5. लेखक - रघुनन्दन शास्त्री (1940), **अलङ्कार प्रवेशिका**, मोतीलाल बनारसीदास, सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर, द्वितीय संस्करण.
6. टीका - आर्यिका श्री विशुद्धमति माताजी, सम्पादन - डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी (2008), **श्रीयतिवृषभाचार्य विरचित तिलोयपण्णत्ती,** श्री 1008 चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, देहरा-तिजारा (राजस्थान), तृतीय संस्करण.
7. Jain, Vijay K. (2016), "*Ācārya Samantabhadra's Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra – The Jewel-casket of Householder's Conduct",* Vikalp Printers, Dehradun.
8. Jain, Vijay K. (2015), "*Ācārya Samantabhadra's Svayambhūstotra – Adoration of The Twenty-four Tīrthaṅkara",* Vikalp Printers, Dehradun.

* * *

स्तुतिविद्या के पद्यों का वर्णाऽनुक्रम

पद्य		पद्य न.
अतमः स्वनतारक्षी तमोहा	–	21
अपराग! समाश्रेयन्नानाम	–	46
अपराग! स मा श्रेयन्	–	47
अपापापदमेयश्रीपादपद्म	–	27
अभिषिक्तः सुरैर्लोकैः	–	48
अभीत्यावर्द्ध मानेनः	–	108
अविवेको न वा जातु	–	44
आलोक्य चारु लावण्यं	–	45
आसते सततं ये च सति	–	4
आस यो नतजातीर्य्यां सदा	–	90
एतच्चित्रं क्षितेरेव घातकोपि	–	41
एतच्चित्रं पुरो धीर स्नपितो	–	63
काममेत्य जगत्सारं जनाः	–	42
कुत एतो नु सन्वर्णो	–	65
कुन्थवे सुमृजाय ते	–	81
केवलाङ्गसमाश्लेष-	–	69
को विदो भवतोपीड्यः	–	106
कोविदो भवतोपीड्यः	–	107
क्रमतामक्रमं क्षेमं	–	50
खलोलूकस्य गोव्रातस्तमः	–	34
गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना तं	–	116
गायतो महिमायते गा यतो	–	15
ग्लानं चैनश्च नः स्येन	–	91
चक्रपाणेर्दिशामूढा भवतो	–	67
चन्द्रप्रभो दयोऽजेयो	–	30
चारुश्रीशुभदौ नौमि रुचा	–	36
चार्वस्यैव क्रमेऽजस्य तुंगः	–	49
जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि	–	115
जयतस्तव पार्श्वस्य	–	99
ततोतिता तु तेतीतः	–	13
ततोमृतिमतामीमं	–	51
तनुतात्सद्यशोमेय	–	98
तमोत्तु ममतातीत	–	100
तावदास्व त्वमारूढो	–	74
तिरीटघटनिष्च्यूतं	–	64
त्रयोलोकाः स्थिताः स्वैरं	–	70
त्रिलोकीमन्वशास्सङ्गं हित्वा	–	68
त्वमवाध! दमेनर्द्ध मत	–	56
दिव्यैर्ध्वनिसितच्छत्र-	–	6
देहिनो जयिनः श्रेयः सदाऽतः	–	25
धाम त्विषां तिरोधानविकलो	–	32
धामस्वयममेयात्मा	–	20

पद्य		पद्य न.
धिया ये श्रितयेतार्त्या	–	3
धीमत्सुवन्द्यमान्याय	–	102
नचेनो न च रागादिचेष्टा वा	–	18
नतपाल! महाराज! गीत्यानुत	–	57
नतपीलासनाशोक	–	5
नतयात विदामीश शमी	–	83
नन्दनश्रीर्जिन त्वा न नत्वा	–	23
नन्दनं त्वाप्यनष्ठो न	–	24
नन्द्यनन्तर्द्धर्यनन्तेन	–	22
नमेमान नमामेनमानमाननमानमा-	–	93
न मे माननमामेन	–	94
नयमानक्षमामान न	–	53
नय मा स्वर्य वामेश	–	88
नयसत्त्वर्त्तवः सर्वे गव्यन्ये	–	73
नर्दयाभर्त्तवागोद्य द्य	–	95
नष्टज्ञान मलोन शासनगुरो	–	111
नागसे त इनाजेय	–	75
नानानन्तनुतान्त	–	109
नुन्नानृतोन्नतानन्त	–	55
नेतानतनुते नेनोनितान्तं	–	52
परान् पातुस्तवाधीशो	–	71
पारावाररवारापारा	–	84
पावनाजितगोतेजो वर	–	92
पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं	–	19
प्रकाशयन् खमुद्भूतः	–	31
प्रज्ञायां तन्वृतं गत्वा स्वालोकं	–	105
प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव	–	113
प्रयत्येमान् स्तवान् वश्मि	–	78
प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां	–	61
भवत्येव धरा मान्या	–	62
भासते विभुताऽस्तोना ना स्तोता	–	10
मानसादर्शसंक्रान्तं सेवे ते	–	58
मानोनानामनूनानां मुनीनां	–	97
यतः कोपि गुणानुक्त्या	–	59
यतः श्रितोपि कान्ताभिर्दृष्टा	–	7
यत्तु खेदकरं ध्वान्तं	–	33
यमराज विनम्रेन रुजोनाशन	–	87
येयायायायययेयाय	–	14
यो लोके त्वा नतः	–	82
रक्ष माक्षर वामेश शमी	–	86
रम्यापारगुणारजः	–	112
रुचं बिभर्ति ना धीरं	–	60
रोगपातविनाशाय	–	76
रोगपातविनाशाय	–	77
लोकत्रयमहामेयकमलाकर-	–	35
लोकस्य धीर! ते वाढं	–	40
वरगौरतनुं देव वंदे नु	–	26
वर्णभार्यातिनन्द्याव वन्द्यानन्त	–	54

पद्य		पद्य न.
वंदारुप्रबलाजवंजवभय-	–	110
वंदे चारुरुचां देव भो	–	28
वामदेव क्षमाजेय	–	103
विश्वमेको रुचामाऽऽको	–	8
वीरं मा रक्ष रक्षार	–	89
वीरावारर वारावी	–	85
शंसनाय कनिष्ठायाश्चेष्टाया	–	37
शं स नायक! निष्ठायाश्चेष्टाया	–	38
शोकक्षयकृदव्याधे! पुष्पदन्त!	–	39
श्रितः श्रेयोऽप्युदासीने	–	9
श्रीमज्जिनपदाऽभ्याशं	–	1
सदक्षराजराजित प्रभो दयस्व	–	16
सदक्षराजराजित प्रभोदय	–	17
समस्तपतिभावस्ते समस्तपति	–	72
समस्तवस्तुमानाय	–	104
सिद्धस्त्वमिह संस्थानं	–	80
सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि	–	114
स्तुवाने कोपने चैव समानो	–	29
स्नात स्वमलगम्भीरं	–	2
स्वचित्तपटयालिख्य जिनं	–	101
स्वयं शमयितुं नाशं	–	11
स्वयं शमयितुं नाशं	–	12
स्वसमान समानन्द्या भासमान	–	79
हतभीः स्वय मेध्याशु शं ते	–	96
हरतीज्याहिता तान्तिं	–	43
हृदि येन धृतोसीनः स दिव्यो	–	66

* * *

Sacred Jaina Texts from Vikalp Printers

Āchārya Kundkund's
Samayasāra

WITH HINDI AND ENGLISH TRANSLATION

श्रीमदाचार्य कुन्दकुन्द विरचित

समयसार

• Prakrit • Hindi • English

Foreword:
Āchārya* 108 Vidyanand *Muni

English Translation, and Edited by:
Vijay K. Jain

- ***Published 2012***
- ***Hard Bound***
- ***Printed on Art Paper***
- ***Pages: xvi + 208***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

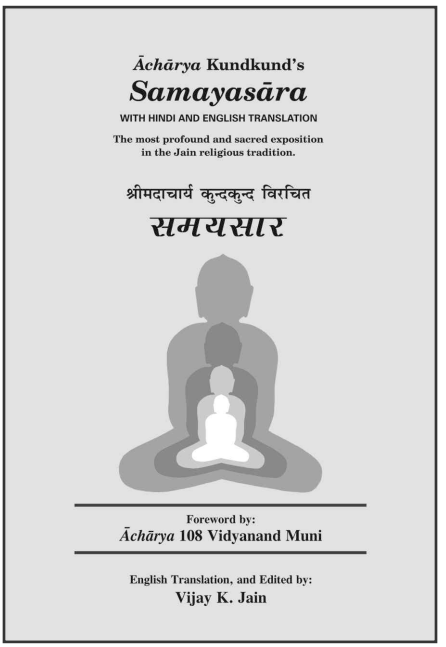

ISBN 81-903639-3-X

Rs. 350/-

Shri Amritchandra Suri's
Puruṣārthasiddhyupāya
Realization of the Pure Self
WITH HINDI AND ENGLISH TRANSLATION

श्री अमृतचन्द्रसूरी विरचित
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

• Sanskrit • Hindi • English

Foreword:
Āchārya* 108 Vidyanand *Muni

English Translation, and Edited by:
Vijay K. Jain

- ***Published 2012; Hard Bound***
- ***Pages: xvi + 191***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

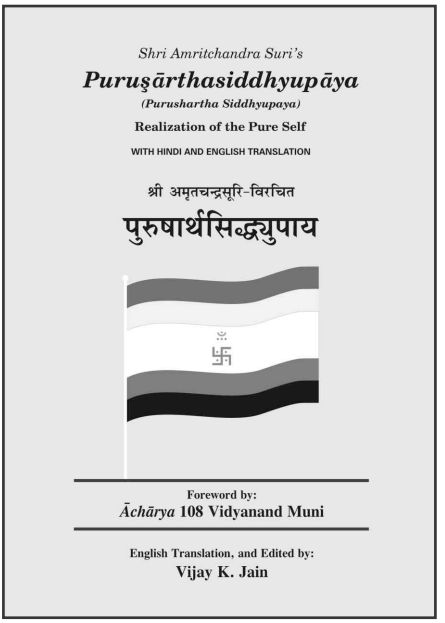

ISBN 81-903639-4-8 **Rs. 350/-**

Ācārya Nemichandra's
Dravyasaṃgraha
With Authentic Explanatory Notes

आचार्य नेमिचन्द्र विरचित
द्रव्यसंग्रह

• Prakrit • Hindi • English

Foreword:
Ācārya* 108 Vidyanand *Muni

English Translation, and Edited by:
Vijay K. Jain

- ***Published 2013; Hard Bound***
- ***Pages: xvi + 216***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

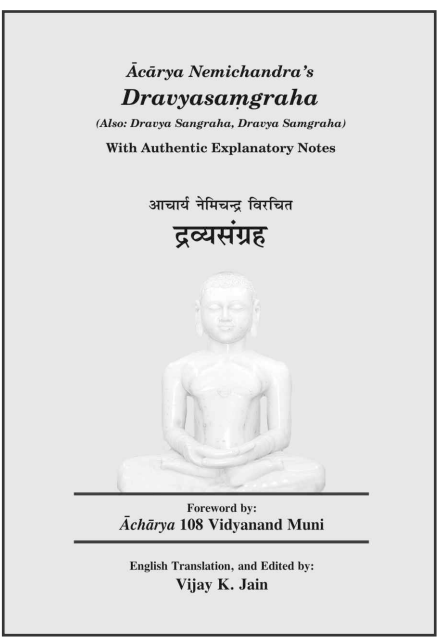

ISBN 81-903639-5-6 **Rs. 450/-**

Ācārya Pūjyapāda's

Iṣṭopadeśa –
The Golden Discourse

आचार्य पूज्यपाद विरचित
इष्टोपदेश

• Sanskrit • English

Foreword:
Ācārya* 108 Vidyanand *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2014; Hard Bound***
- ***Pages: xvi + 152***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

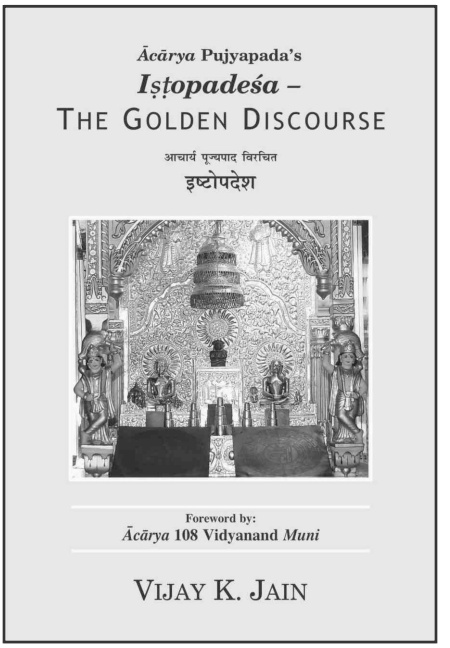

ISBN 81-903639-6-4 **Rs. 450/-**

Ācārya Samantabhadra's

Svayambhūstotra –
Adoration of
The Twenty-four *Tīrthaṅkara*

आचार्य समन्तभद्र विरचित
स्वयम्भूस्तोत्र

• Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyanand *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2015; Hard Bound***
- ***Pages: xxiv + 220***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

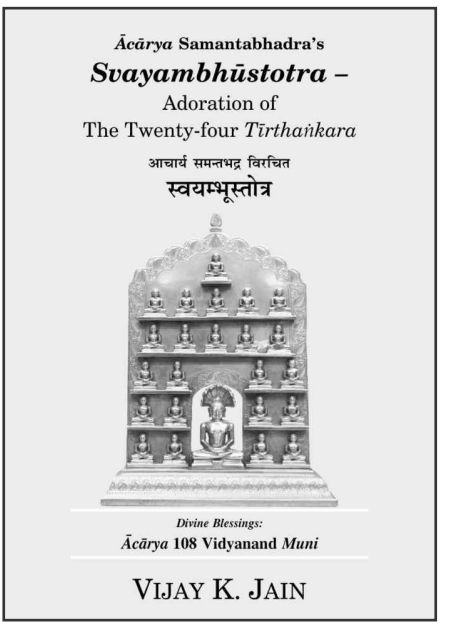

ISBN 81-903639-7-2 **Rs. 500/-**

Ācārya Samantabhadra's

Āptamīmāṁsā

(Devāgamastotra)

Deep Reflection On The Omniscient Lord

आचार्य समन्तभद्र विरचित

आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र)

• Sanskrit • Hindi • English

Foreword:

Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:

Vijay K. Jain

- ***Published 2016; Hard Bound***
- ***Pages: xxiv + 200***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

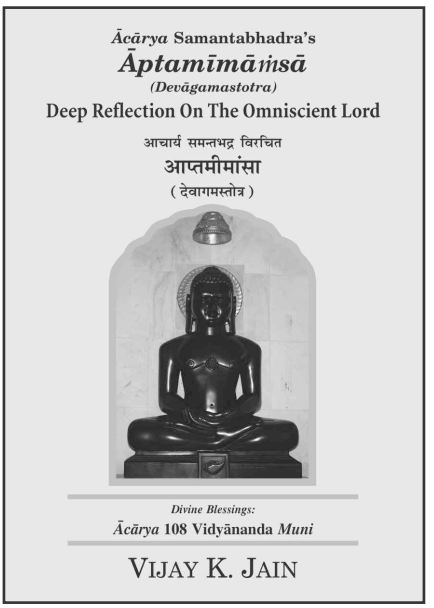

ISBN 81-903639-8-0 **Rs. 500/-**

Ācārya Samantabhadra's

Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra –

The Jewel-casket of Householder's Conduct

आचार्य समन्तभद्र विरचित

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

• Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:

Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:

Vijay K. Jain

- ***Published 2016; Hard Bound***
- ***Pages: xxiv + 264***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

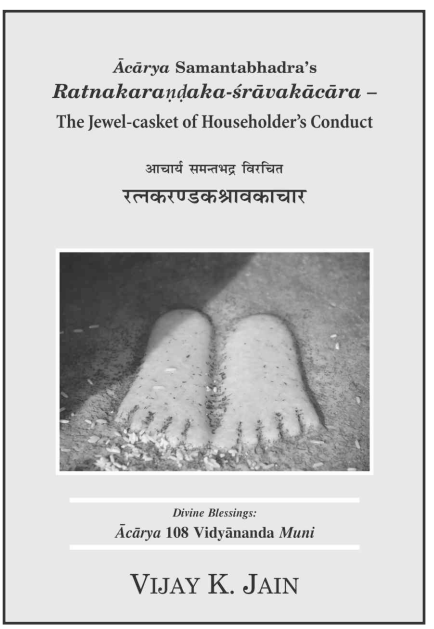

ISBN 81-903639-9-9 **Rs. 500/-**

Ācārya Pūjyapāda's

Samādhitaṅtram – Supreme Meditation

आचार्य पूज्यपाद विरचित

समाधितंत्रम्

• Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2017; Hard Bound***
- ***Pages: xlii + 202***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

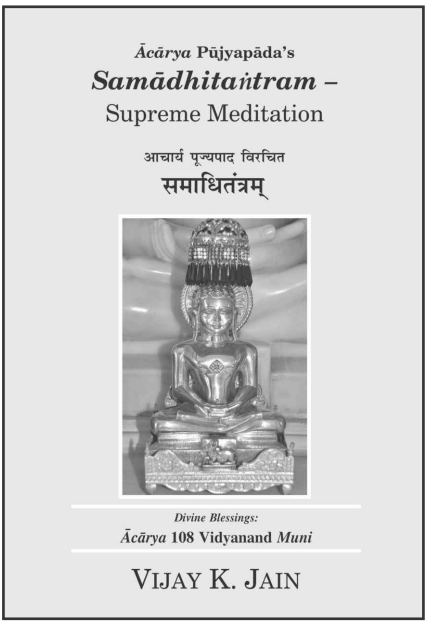

ISBN 978-81-932726-0-2 **Rs. 600/-**

Ācārya Kundakunda's

Pravacanasāra – Essence of the Doctrine

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित

प्रवचनसार

• Prakrit • Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2018; Hard Bound***
- ***Pages: lxi + 345***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

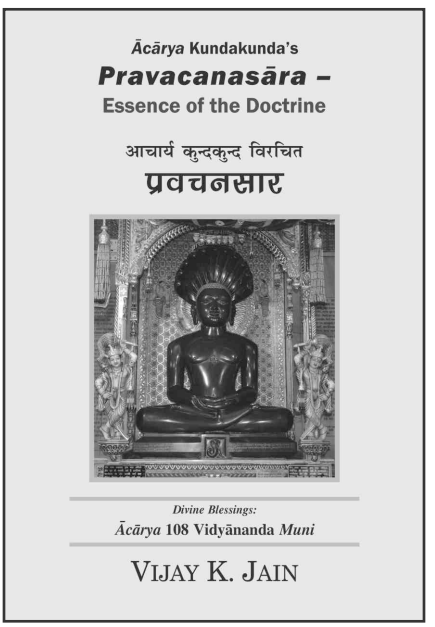

ISBN 978-81-932726-1-9 **Rs. 600/-**

Ācārya Umāsvāmī's *Tattvārthasūtra* – With Explanation in English from *Ācārya* Pūjyapāda's *Sarvārthasiddhi*

आचार्य उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र (अंग्रेजी व्याख्या स्त्रोत - आचार्य पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धि)

• Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2018; Hard Bound***
- ***Pages: xxx + 466***
- ***Size: 16 × 23 cm***

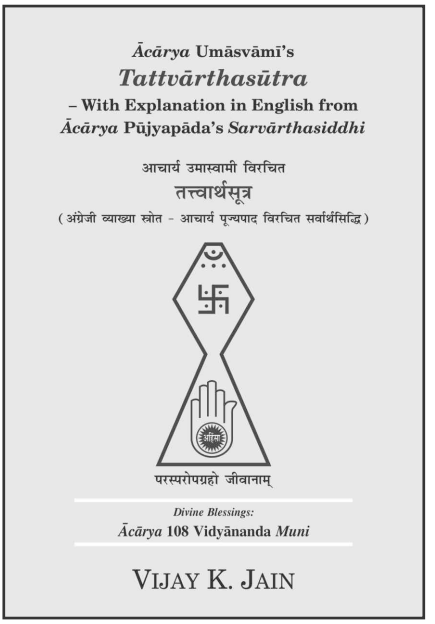

ISBN 978-81-932726-2-6 **Rs. 750/-**

Ācārya Kundakunda's *Niyamasāra* – The Essence of Soul-adoration (With Authentic Explanatory Notes)

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित नियमसार (प्रामाणिक व्याख्या सहित)

• Prakrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2019; Hard Bound***
- ***Pages: lxiv + 341***
- ***Size: 17 × 24 cm***

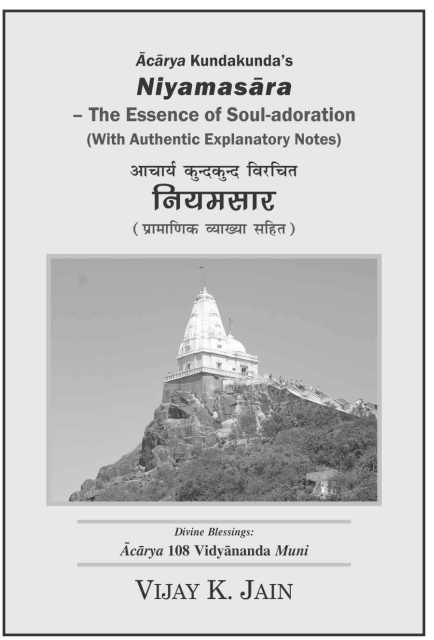

ISBN 978-81-932726-3-3 **Rs. 600/-**

Ācārya Guṇabhadra's

Ātmānuśāsana

– Precept on the Soul

आचार्य गुणभद्र विरचित

आत्मानुशासन

• Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2019; Hard Bound***
- ***Pages: xlvi + 240***
- ***Size: 17 × 24 cm***

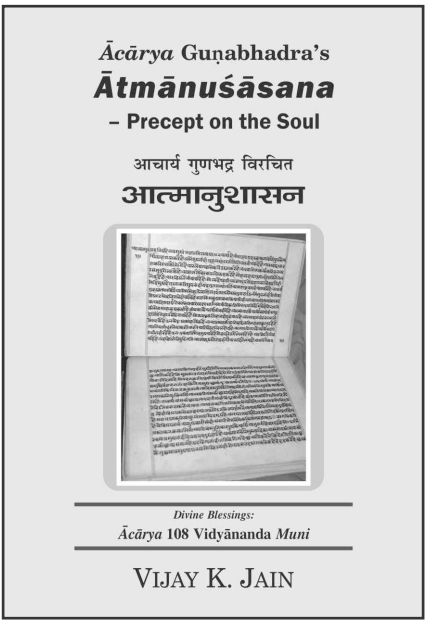

ISBN 9788193272640 **Rs. 600/-**

Ācārya Kundakunda's

Paṅcāstikāya-saṃgraha

– With Authentic Explanatory Notes in English

(The Jaina Metaphysics)

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित

पंचास्तिकाय-संग्रह

- प्रामाणिक अंग्रेजी व्याख्या सहित

• Prakrit • Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* Viśuddhasāgara *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2020; Hard Bound***
- ***Pages: lxx + 358***
- ***Size: 17 × 24 cm***

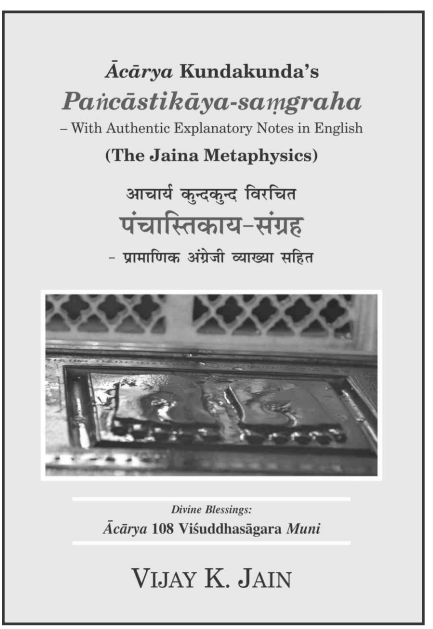

ISBN 9788193272657 **Rs. 750/-**

आचार्य समन्तभद्र विरचित

युक्त्यनुशासन

अन्वयार्थ एवं व्याख्या सहित

• संस्कृत • हिन्दी

दिव्याशीष

आचार्य विशुद्धसागर मुनिराज

सम्पादक

विजय कुमार जैन

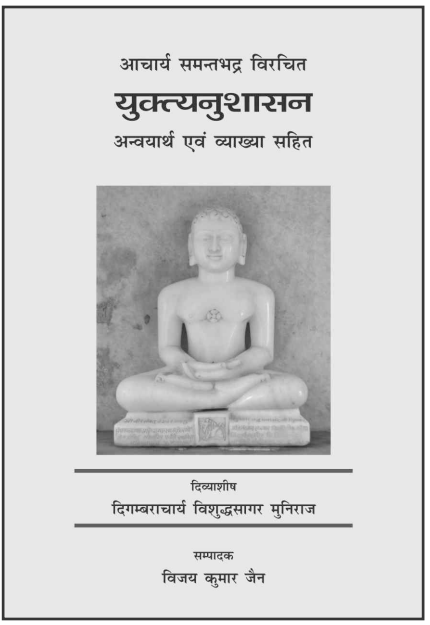

- ***Published 2020; Hard Bound***
- ***Pages: xl + 200***
- ***Size: 17 × 24 cm***

ISBN 9788193272664 **Rs. 500/-**

आचार्य समन्तभद्र (लगभग दूसरी शती) ने 'युक्त्यनुशासन', जिसका दूसरा नाम 'वीरजिनस्तोत्र' है, में अखिल तत्त्व की समीचीन एवं युक्तियुक्त समीक्षा के द्वारा श्री वीर जिनेन्द्र के निर्मल गुणों की स्तुति की है। युक्तिपूर्वक ही वीर-शासन का मण्डन किया गया है और अन्य मतों का खण्डन किया गया है। प्रत्यक्ष (दृष्ट) और आगम से अविरोधरूप अर्थ का जो अर्थ से प्ररूपण है उसे युक्त्यनुशासन कहते हैं। यहाँ अर्थ का रूप स्थिति (ध्रौव्य), उदय (उत्पाद) और व्यय (नाश) रूप तत्त्व-व्यवस्था को लिये हुए है, क्योंकि वह सत् है। आचार्य समन्तभद्र ने यह भी प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार दूसरे सर्वथा एकान्त शासनों में निर्दिष्ट वस्तुतत्त्व प्रमाणबाधित है तथा अपने अस्तित्व को सिद्ध करने में असमर्थ है। आचार्य समन्तभद्र ग्रन्थ के अन्त में घोषणा करते हैं कि इस स्तोत्र का उद्देश्य तो यही है कि जो लोग न्याय-अन्याय को पहचानना चाहते हैं, और प्रकृत पदार्थ के गुण-दोषों को जानने की जिनकी इच्छा है, उनके लिये यह 'हितान्वेषण के उपायस्वरूप' सिद्ध हो।

NOTES

NOTES

NOTES

NOTES

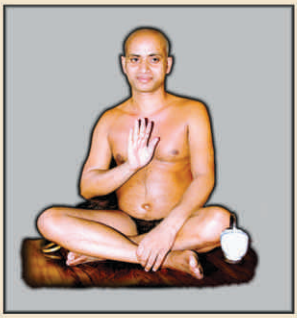

'स्तुतिविद्या' आचार्य समन्तभद्र स्वामी की एक अमूल्य कृति है जिसमें विशिष्ट छंदों का प्रयोग है। मुरजबंधादि में श्लोकों को निबद्ध कर सुशोभित किया है; एक-एक वर्णों में श्लोकों की अपूर्व रचना है। अर्हत्-भक्ति के मूर्त-रूप थे, आचार्य समन्तभद्र स्वामी। पद-पद में प्रभु-भक्ति समाहित है...

... **'स्तुतिविद्या'** महान् ग्रंथ को पूर्व में अनेक विद्वानों ने स्व-योग्यतानुसार प्ररूपित किया है। सम्प्रति स्वाध्यायार्थ जन-जन तक पहुँचाने हेतु; सम्पादन का श्रमशील कार्य कर रहे विद्वान-मनीषी, पाप-भीरु, श्रुत-भक्त श्री विजय कुमार जैन (देहरादून) ने इस ग्रंथ पर कार्य किया है। आपकी ज्ञान-पिपासा, श्रुत-सेवा की पवित्र-भावना सदा इसी प्रकार वर्द्धमान रहे। आप प्राचीन ग्रंथों का श्रेष्ठ सम्पादन कार्य करते रहें, जिससे भोले-भव्यों को सद्-मार्ग का उपदेश प्राप्त होता रहे। आप परमजिन, श्रुत, साधु-भगवंतों की आराधना करते हुए, स्व-समाधि की सम्पत्ति प्राप्त करें, यही मंगलमय शुभाशीष है।

दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनि

ISBN: 9788193272671

विकल्प
Vikalp Printers